परीक्षार्थी प्रबोध

(चतुर्थ खण्ड)

(साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों का संशोधित अथवा कुछ नये

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

जनवरी

प्रथम बार   सन् १६५४   मूल्य ३)

विषय-सूची

प्रकाशक का निवेदन

'परीक्षार्थी-प्रबोध' का चतुर्थ खण्ड प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है। पहले खण्डों के समान ही इस खण्ड में भी लेख साहित्य-सन्देश के पुराने अङ्कों से—उन अङ्कों से जिनकी अब भी प्रति नहीं मिलती—उद्धृत किए गए हैं। कई लेख ऐसे भी हैं अभी तक कहीं नहीं छपे—यहीं अभी छप रहे हैं। पाठक देखेंगे कि खण्ड में भी लेखों का चयन बड़ी सावधानी से किया गया है और वह कक्षा के विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी साबित होंगे।

परीक्षार्थी-प्रबोध के पहले तीन खण्डों का बड़ा स्वागत हुआ—कई-कई संस्करण हो चुके। जनता ने उन्हें बहुत पसन्द किया। विश्वास है कि यह खण्ड भी इसी प्रकार पसन्द किया जायगा और जिन विद्यार्थियों के उपयोग के लिए इसका सम्पादन और प्रकाशन हुआ है इससे पूरा लाभ उठावेंगे।

परीक्षार्थी-प्रबोध के पाँचवें खण्ड के रूप में शीघ्र ही साहित्य-सन्देश का उपन्यास अङ्क प्रकाशित किया जायगा जिसकी भारी माँग बहुत दिन से चली आ रही है। यह खण्ड छपने दिया जा रहा है और शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा।

हिन्दी कविता में अलङ्कार-विधान

अलङ्कारों पर विचार करने के पूर्व उनके आधार पर विचार कर लेना
वश्यक है। यदि कवियों के अलङ्कार-विधान पर ध्यान दिया जाय, तो
ह स्पष्ट लक्षित होता है कि अधिकांश अलङ्कारों का आधार साम्य है।
म्य का चमत्कार दिखाने के लिए कभी-कभी तो सदृश शब्दों या सदृश
र्थों को ही लेकर अलङ्कारों की योजना करली जाती है; पर इस प्रकार के
लङ्कारों का काव्य में विशेष महत्व नहीं है। इनके द्वारा काव्य में एक
कार का चमत्कार आ जाता है, जिससे चमत्कृत होकर हम कवि की कारी-
री पर थोड़ी देर के लिए मुग्ध हो जाते हैं, हमारे हृदय में आनन्दानुभूति
ा उद्रेक हो जाता है, पर वह न तो गम्भीर होता है न स्थायी। किन्तु जो
लङ्कार-विधानस्वरूप और धर्म के साम्य को लेकर चलता है, वह अवश्य
हुत काव्योचित होता है। परन्तु यहाँ भी एक सावधानी की आवश्यकता
ोती है। कविता का लक्ष्य केवल वस्तुबोध कराना ही नहीं है वरन् भावो-
र्ष कराना भी है। अतः यदि साम्य किसी वस्तु की जानकारी कराने भर
े लिए न हुआ, प्रत्युत भावना विशेष को जगाने वाला हुआ, तो उस
साम्य का मूल्य काव्य में बढ़ जाता है। इस प्रकार अलङ्कार विधान
में प्रभाव-साम्य सब से महत्वपूर्ण बात ठहरती है।

प्राचीन हिन्दी कविता में प्रायः सभी साम्यों को लेकर कविता की गयी
है। शब्दों के साम्य पर यदि किसी को कारीगरी देखना अभीष्ट हो, तो वह

वस इस प्रकार के पण्डित कवि बहुत कम हुए हैं। अधिक संख्या रही जो चमत्कार को कविता में दूसरा स्थान देते हैं। रीतिकाल में ऐसे भी दिखलायी देते हैं जो भावोत्कर्ष की ओर थोड़ा ध्यान तो रखते हैं, पर चमत्कार को भी नहीं छोड़ सकते। बिहारी जैसे कुछ दो भाग में स्पष्ट बाँटी जा सकती है। इनके कुछ दोहे ऐसे हैं जो ही दिखलाने के लिए लिखे गये हैं और कुछ ऐसे हैं जिनमें रसानुभूति की ओर दृष्टि है। इनकी

"तो पर वारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी, ह्वै उरबसी समान॥" —बिहारी

में 'उरबसी' के चमत्कार के अतिरिक्त और क्या है? पर निम्नलिखित दोहे में चमत्कार की प्रधानता नहीं रह सकी है—

"छटपटावि-सी ससिमुखी, मुख घूंघट पट ढाँकि।
पावक-झर-सी झमकि कै, गई झर ले झाँकि॥"

इस प्रकार कुछ कवियों में चमत्कार दिखलाने वाली रचना अलग-[...]ग हो गयी है। पर जो कवि-कर्म को खिलवाड़ नहीं समझते; जो अपनी [...]व-प्रतिभा का अपव्यय दूर की कौड़ी लाने में नहीं करते; जो भावोत्[...] परिचालित अन्तर्वृत्ति के अनुरूप अप्रस्तुत-विधान सामने लाते [...][...]ार का उपयोग भावोत्कर्ष में ही करते आये हैं; उन्होंने केवल चम[...] [...] के अलग छन्दों की रचना की है—

"निरखत अङ्क स्याम सुन्दर के बार बार लावत छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै,
ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥" —सूरदा[...]

[...]मी हो इतना तो मानना ही पड़ता है कि पुराने कवियों की दृष्टि [...]की ओर थोड़ी बहुत अवश्य थी। जो और कुछ नहीं करते थे वे [...]ी छटा दिखाये बिना नहीं रहते थे। शब्दों और शब्दों के उपयोग [...]अनुमान के बल पर भी कवि बहुत दूर की करते थे।

'पग्ना ही तिथि पाइये वा घर के चहुँपास'

ऐसे अनुमानाश्रित उदाहरण की कमी प्राचीन कविता में नहीं है पर नवीन कवियों में अप्रस्तुत योजना की प्रधानता होते हुए भी चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं लक्षित होती। उनमें शब्द चमत्कार-अलङ्कार—यमक, श्लेष इत्यादि मिलते अवश्य हैं, पर वे खिलवाड़ का कारण नहीं करते। यमक और श्लेष के उदाहरण लीजिए—

"घूमता है सम्मुख वह रूप
सुदर्शन हुए सुदर्शन चक्र"
"तरणि हाँ के संग तरल तरङ्ग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में" —पंत
"जीवन की जटिल समस्या
है बढ़ी जटा-सी कैसी,
उड़ती है धूल हृदय में
किसकी विभूति है ऐसी!" —प्रसाद

अब लीजिए सादृश्य और साधर्म्यमूलक अलङ्कार। इन पर करने के पूर्व इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है कि वर्तमान व्यञ्जनावाद का है। जिसके अनुसार कविता में अप्रस्तुत ही सब कुछ अतः नई रङ्गत के अधिकांश कवि साम्य (analogy) के बिना चलते नहीं। बाहरी रूप व्यापारों तथा अन्तर्वृत्तियों दोनों की अभिव्यक्ति अप्रस्तुत वस्तुओं द्वारा करते हैं; कभी उपमा-रूपक की पद्धति पर के साथ समन्वित रूप में—

"इस हृदय-कमल का खिलना, अलि अलकों की उलझन में"

कभी रूपकातिशयोक्ति की पद्धति पर केवल अप्रस्तुतों द्वारा—

"जब शान्त मिलन संध्या को
हम हेमजाल पहनाते,

नवीन कवि सादृश्य और साधर्म्य की बड़ी परवा नहीं करते; दृष्टि प्रभाव-साम्य की ओर अधिक रहती है। सादृश्य और साधर्म्य अल्प या कमी कभी न रहने पर भी प्रभाव-साम्य लेकर अप्रस्तुत की कर दी जाती है। ऐसे अप्रस्तुत प्रायः प्रतीकवत् (Symbolic) होते जैसे सुख के व्यञ्जक ऊषा, चन्द्रिका; विषाद या अवसाद के व्यञ्जक छाया, अन्धेरी रात्रि इत्यादि—

> "लिपटे सोते थे मन में
> सुख-दुख दोनों ही ऐसे,
> चन्द्रिका अँधेरी मिलती
> मालती कुञ्ज में जैसे"

यहाँ सुख और दुःख के क्रमशः उपमान रखे गये हैं—चन्द्रिका अन्धेरी। कहने की आवश्यता नहीं कि यह साम्य-प्रभाव को लेकर ही गया है। चन्द्रिका का प्रभाव आह्लादकारक और अन्धकार का उदासी लाने वाला, इस प्रकार के सार्वभौमिक प्रतीक (Uni. Symbol) कविता के बड़े काम के हैं। इससे भाषा की जाती है। पर वर्तमान कविता में सार्वभौमिक प्रतीक ही नहीं, भी काम में लाये जाते हैं—

> झंझा झकोर गर्जन था,
> बिजली थी नीरद माला,
> पाकर इस शून्य हृदय को
> सब ने आ डेरा डाला।"

यहाँ पर हृदय के अत्यन्त गहरे क्षोभ के लिए झंझा झकोर और हर्ष के लिए नीरद-माला। भारत में ग्रीष्म दुःखद माना योरप में सुखद। इसी प्रकार भारत में बादल जीवन-दाता कहा पर योरप में यह विपत्ति का प्रतीक है। यहाँ तक ठीक है। इस प्रतीक (कम से-कम देश ज्ञान रखने वालों को) समझ में आ जाते हैं

वाले व्यङ्ग-रूपक बराबर दिखायी पड़ते हैं। जिनमें दो दो, तीन-ती
ों का गुम्फन दूर तक चलता रहता है—

"सजा सुमनों के सौरभ हार
गूँथते थे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल प्रवाल,
नहीं छूटी तरु-डाल;
विश्व पर विस्मित-चितवन डाल
हिलाते अधर-प्रवाल।"

* * *

"न पत्रों का मर्मर-सङ्गीत,
न पुष्पों का रस, राग, पराग
एक स्फुट, अस्पष्ट, अगीत,
सुप्ति की ये स्वप्निल मुसकान
सरल शिशुओं के शुचि अनुराग
वन्य विहगों के गान"

इन दो पद्यों में ही नहीं 'पल्लव' शीर्षक पूरी कविता भर के कोमल पत्तों और बालक का लम्बा साम्य (anology) चलता है। अप्रस्तुत के लिए अनेक अप्रस्तुत लाना अनुचित नहीं। ९८ जहाँ एक स्तुत के लिए एक और अप्रस्तुत की योजना की जाती है, वहाँ कविता दुर्बोधता आ जाती है। जैसे—

"अरुण कलियों-से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय"

में घाव स्वयं अप्रस्तुत है—वेदना के लिए आया है। इस का भी उपमान 'अरुण कलियाँ' रखा गया है। पर पद्य पढ़ने से घाव स्तुत नहीं प्रस्तुत प्रतीत होता है।

-उस मृदुल शिशिर सुमन-सा
मैं म्लान धूल में मिलता'' —प्रसाद

ऐ की कुछ योजनाएँ तो प्राचीन पद्धति से अथवा उसमें थोड़ा
करने से नवीन कविता में आयीं। कुछ ऐसी भी योजनाएँ
जे अङ्गरेजी से ली गयी हैं। इनका मुख्य आधार लक्षणा है।
बहुत सुन्दर अप्रस्तुत-विधान होता है। इससे अगोचर भावों
रूप तो मिलता ही है साथ ही प्रभाव पर भी जोर पड़ता है।
ा जटिल हो जाता है, वहाँ कविता में बड़ी दुर्बोधता आ जाती
देखिए—

''मूढ़ कल्पना-सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियों के गम्भीर हृदय-सी
बच्चों के तुतले भय-सी;'' —पल्लव से

तुतले-भय-सी' का अर्थ तब तक समझ में नहीं आ सकता,
' का लक्ष्यार्थ 'भय का कारण' और 'तुतले भय' का लक्ष्यार्थ
में व्यक्त भय' न लिया जाय। जब इस दुहरी लक्षणा से
जायगा, तब कहीं पदार्थ का प्रकृत अर्थ (जिस बच्चे के उस भय
, जिसे वह अपनी तुतली बोली में व्यक्त करता है) मिलेगा।
वीन कविता में लिये गये अलङ्कारों में ये प्रधान हैं—मानवी-
rsonification) और विशेषण-विपर्यय। इस प्रकार का
न हिन्दी की प्राचीन कविता में ढूँढ़ने से ही मिलेगा। पर
ा में '*कैसी हिलती-डुलती आँखमिचौनी है कली तुझे खिलने की*'
रा गीला गान', 'बच्चों की तुतले-भय-सी' इत्यादि की भाँति
र्यय के उदाहरण स्थान-स्थान पर मिलेंगे।

ृति पट लेकर पूर्व स्मृतियाँ, खड़ी यहाँ पट खोल।
आप ही अरुण हुए हैं, इनके पाण्डु कपोल॥''
—मैथिलीशरण गुप्त

"छुई-सी पी-सी मृदु मुसकान
छिपी-सी खिंची सखी-सी साथ
उसी की उपमा-सी बन, मान
गिरा का धरती थी, धर हाथ"

से मानवीकरण (Personification) की भी कमी नहीं है। पर ... के कपोल पीले या लाल करना अथवा हँसी को सखी बना कर हाथ पकड़वाना इत्यादि कितनी सामान्य भाव भूमि पर हैं, यह ... आवश्यकता नहीं। अङ्गरेज़ी की तरह प्रतीक ग्रहण भी आजकल ... में खूब मिला करता है। यह भी मानवीकरण की तरह कहीं-कहीं ... जाता है। 'विचारों में बच्चों की साँस', 'मेरे जीवन ने अन्तिम पाहुन' ... प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

नवीन अलङ्कार-विधान के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की यों तो कवि के लिए कोई बन्धन नहीं है, चाहे वह अमूर्त (... पदार्थों का उपमान मूर्त (Concrete) रखें और चाहे मूर्त ... पर प्राचीन कवियों में प्रायः पहली बात पायी जाती है। हृदय को काम, क्रोध, मद, लोभ इत्यादि को चोर अथवा अग्नि, विषय भोग को के रूप में कवि-परम्परा बराबर दिखलाती चली आयी है—

'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते'
—गो०

किन्तु आज-कल के कवि मूर्त पदार्थों के भी अमूर्त उपमान करते हैं—

"गिरिवर के उर से उठकर
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर"

"कामना कला-सी विकसी
कमनीय मूर्ति थी तेरी" —प्रसाद

किन्तु दृष्टि अब वीरता मात्र प्रदर्शन करना नहीं
बढ़ता गया भारत में एक और प्रकार की मनोवृत्ति प्रबल होने लगी।
वीरता के नाम से तलवार और रक्तपात का युग उतना आकर्षक न रह
गया था—अंग्रेज़ी शासन के विस्तार ने नागरिकों में तलवार और रक्त का
सब व्यक्ति के उतने निकट नहीं रहने दिया था जितना मध्यकाल में था।
युद्ध के साधनों में राजपूती कौशल एक दम त्याज्य हो चुका था। पहले
जहाँ तलवार साहस का चिह्न थी, अब बन्दूक और मशीनगन—गन और तोप,
गोले काम में आने लगी थीं—और इसमें नग्न विनाश देख कर समाज का
दार्शनिक भारतीय कभी उसे रुचिकर अथवा प्रशंसनीय नहीं समझ सकता
था—फिर वह वीरता की ओर यदि बढ़ सकता था तो उसमें कुछ दार्शनिक
मधुरता होने के कारण ही बढ़ सकता था। अब उसमें उसके लिए आते
नहीं था। तो जैसा कहा, एक और प्रकार की मनोवृत्ति प्रबल होने लग
थी। वह थी सभ्यता की ललकार। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग अंग्रेज़ों
व्यवहार-शीलता के बाह्याडम्बर पर मुग्ध होकर, उनके भाव-प्रणाली
प्रभावित होकर भारतीय सभ्यता और उसके आदर्शों को हेय समझने
थे। यह भीषण आत्म-घात की तैयारी थी। वह युग था जिसमें
पढ़ चुकने वाला व्यक्ति अपने को अधिकारियों के वर्ग का समझ कर
उस कठोर सत्ता का पृथक अस्तित्व सिद्ध करने के लिए 'तुम' बोल
हुए भी 'तुम' कह कर अपनी ही मातृभाषा का अपमान करता
था। ऐसे अवसर पर महाराणा प्रताप की वीरता का वर्णन या
युद्ध' अथवा राजपूतों के साहस की कहानियाँ कोई अर्थ नहीं रख
थी। इस काल में भारतीय गौरव के ठीक सामने खड़े होकर प्रश्न
था—'तुम्हारी सभ्यता क्या है'!

और इस काल के कुछेक ऐतिहासिक इस सीधे और धृष्ट उच्चा
सुनकर मर्मपीड़ित हो भारतीय कङ्काल की कड़ियाँ जोड़ने में लगे
प्रसादजी केवल कड़ियाँ जोड़ना नहीं चाहते थे। वे तो उनमें मन्त्र से
फूँकना चाहते थे। जो कभी ऐसे लिख चुका हो—

ग्य की सन्धि में थे। स्कन्दगुप्त में हिलमिलाते गुप्त-साम्राज्य के अन्तिम
नों की जर्जरित प्रदीप झांकी है। चन्द्रगुप्त में नन्द और मौर्यों की सन्धि
का विनाश है।

किन्तु इन सब में कवि का एक महत् उद्देश्य इतिहासकार का-सा छिपा
हुआ है। वह मानो भारतीय सभ्यता के तन्तुओं को बटोर कर रखना चाहता
है। नहीं वह इतिहासकार की भांति सभ्यता के विकास का एक क्रम भी
उपस्थित कर रहा है। करुणालय वैदिक सभ्यता की कल्पना का रूप उपस्थित
करने को प्रस्तुत हुआ है—

यह जो रोहित को बलि देते तो नहीं
वह बलि लेता; किन्तु मना करता इन्हें।
क्योंकि अधम है क्रूर आसुरी यह क्रिया
यह न आर्य पथ है, दुस्तर अपराध है
वह प्रकाशमय देव न देता दुःख है।

तब राज्यश्री में चीनी सुएनच्वांग भारत से शिक्षा लेता है—
हर्ष०— सब मणिरत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतार देता है
(राज्यश्री से)—दो बहिन ! एक वस्त्र। राज्यश्री देती है।

हर्ष०—क्यों, मेरी इस विभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या की जा
रही थी न ! मैं आज सब से अलग हो रहा हूँ—यदि कोई शत्रु मेरा प्राण
दान चाहे, तो वह भी दे सकता हूँ।

"जय महाराजाधिराज हर्षवर्धन की जय।"

सुएन०—यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देख कर सम्राट ! मुझे विश्वास
हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।

नीति की व्याख्या-सी ध्रुवस्वामिनी में मिहिर देव का कथन है—
! राजनीति ही मनुष्य के लिये सब कुछ नहीं है। राजनीति के
से भी हाथ न धो बैठो; जिसका विश्व-मानव के साथ व्याप
है।

इन ऐतिहासिक नाटकों को छोड़ काल्पनिक नाटकों में 'कामना' सुप्रसिद्ध है। 'कामना' वस्तुतः रूपक है—आमौतिक और आवरण के भावात्मक तत्वों को रूपक दिया गया है। कामना, विवेक, विनोद, लीला, विलास जैसे पात्रों की उसी प्रकार अवतारणा की गई है जिस प्रकार धर्म-युग में प्रबोध चन्द्रोदय में सत्य, बुद्धि, मोह आदि की। इसका विषय का केन्द्र यही है कि 'विलास' एक अघोर वातावरण में रहने वाले व्यक्तियों में बाकर महत्वाकांक्षिणी 'कामना' का साथ कर अपने नयी धारणाओं की सृष्टि करता है—शराब और सोना बनाता है, रानी और न्याय के आसनों की प्रतिष्ठा करता है—सम्यता की बातों का धीरे धीरे प्रवेश करता है, और वैसे ही धीरे धीरे मानवता का ह्रास और पतन का आवश्यक पड़ता जाता है। —निक सम्यता जिसमें 'मद' और 'सोना' पूज्य हैं यही मानव जीवन को दम कलुषित करने वाली है।

इस प्रकार 'प्रसाद' जी के नाटकों में एक अध्ययनाकान्त सस्कृत भ... प्यूत सोद्देश्य प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। कुल, जाति, मानव-मात्र ... आत्मा की व्याख्या यहाँ है। क्षमा के अभूतपूर्व उदाहरण उपस्थित ... न की दिव्य-आदर्श-शील कल्पना उसमें प्रकाशित है। राज्य ... य वैभव के चित्र तो हैं पर सभी विराग उत्पन्न करने वाले।

इस प्रकार प्रसादजी के आख्यानों और प्रणालियों में उनका ... रक्षित है। इसी प्रकार भाषा का दृष्टिकोण भी है। सभी पात्र एक ... भाषा बोलते हैं—ग्रीक, चीनी, शक, हूण, उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी ... नके रङ्गमञ्च पर आकर एक भाषा भाषी हो जाते हैं।

किन्तु इन नाटकों में हिन्दी रङ्गमञ्च की कोई कल्पना नहीं। ... र्तनिक, उनका निर्वाह मार्मिक, पात्रों का कथोपकथन अपूर्व उक्तियों ... सूक्तियों से परिपूर्ण—उनमें हृदय स्पर्श करने के अपूर्व सामर्थ्य ... युक्त है, पर वह कहीं नहीं जिससे रङ्गमञ्च का रूप बने। हिन्दी ... —लेक निर्माण का प्रश्न बना ही हुआ है—उसे प्रसादजी भी नहीं कर सके तो वस्तुतः दूर ही रहे।

साकेत' में कौनसा रस प्रधान है

सावित्रीनन्दन महोदय ने ता० ७ मई सन् १६३३ ई० के
गुप्तजी का साकेत' शीर्षक अपने विचारपूर्ण लेख में लिखा था—
में कवि ने प्रसङ्गानुकूल प्रायः सभी रसों का समावेश किया
मावेश ही नहीं किया है, उनकी सम्यक् व्यञ्जना भी की है।
करुण-रस का ही है। यह किसी भी प्रकार से अनुचित भी
सकता, क्योंकि करुण रस सब रसों का राजा माना ही

यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो साकेत में 'करुण-रस का
ही है; विप्रलम्भ शृङ्गार ही इस महाकाव्य का अङ्गी रस जान
'माधुरी' के किसी समर्थ समालोचक महोदय ने 'साकेत' नाम
नुपयुक्त बतलाते हुए लिखा था कि यदि इस महाकाव्य का नाम
वास' होता तो अच्छा रहता। यहाँ पर हमें 'साकेत' नाम की
यथार्थकता पर विचार नहीं करना है, इस प्रसङ्ग का उल्लेख
अभिप्राय केवल यही है कि साकेतकार ने अपने महाकाव्य में
महर्षि वाल्मीकि और गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा उपेक्षिता
कितना अधिक महत्त्व दिया है, जिसके कारण समालोचकों की
र्मिला के नाम पर ही इस महाकाव्य का नामकरण-संस्कार किया
युक्त जान पड़ता है। साकेत के प्रथम सर्ग को ही देखिए। उसमें
र्मिला के प्रेम-युक्त सम्भाषण को ही महत्त्व दिया गया है। अन्तिम
माप्ति भी—

"नाथ, नाथ! क्या तुम्हें गया ही मैंने पाया!

×　　×　　×

स्वामी, स्वामी, जन्म-जन्म के स्वामी मेरे!
किन्तु कहाँ वे अहोरात्र, वे साँझ सबेरे!"

७२ पृष्ठ का सबसे बड़ा नवम सर्ग तो उर्मिला के वियोग-वर्णन को ही अर्पित कर दिया गया है। ४६ पृष्ठ के दशम सर्ग में भी विरहिणी उर्मिला के पूर्व-स्मृतिजन्य उद्गार का ही वर्णन है। इस प्रकार जब इस महाकाव्य के प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त, सर्वत्र ही उर्मिला को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है तो हम कैसे कह सकते हैं कि 'साकेत' में 'प्राधान्य करुण-रस ही का है?' साहित्य-दर्पणकार के अनुसार "इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण-रस आविर्भूत होता है और निहत बन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन विभाव होते हैं, एवं उनका दाह-कर्म आदि उद्दीपन होता है। प्रारब्ध की निन्दा, भूमि-पतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्वास, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता आदि इसके व्यभिचारी हैं।" इसके विरुद्ध विप्रलम्भ शृङ्गार में रति स्थायी भाव होता है, अर्थात् स्त्री पुरुष के वियोग में जब तक प्रेम-पात्र के जीवित होने का ज्ञान हो, तब तक मिलन की उत्सुकता एवं व्याकुलता से परिपुष्ट प्रेम की प्रधानता रहती है।

'साकेत' यद्यपि राम-वनवास, दशरथ-मरण, भरत का आगमन और उनके द्वारा महाराज की दाह-क्रिया इत्यादि करुण-रस की सामग्री प्रस्तुत करने में पूर्ण सहायक होता है, तथापि महाराज दशरथ की शोक-पूर्ण मृत्यु का दृश्य उपस्थित करना कवि का अभीष्ट नहीं है। इसे हम प्रासङ्गिक-कथा के अन्तर्गत ही समझ सकते हैं, आधिकारिक वस्तु के अन्तर्गत नहीं। उर्मिला-लक्ष्मण के संयोग तथा विशेषतः विप्रलम्भ-शृङ्गार की ओर ही कवि का लक्ष्य रहा है। इसलिए 'साकेत' में करुण-रस का प्राधान्य न मान कर विप्रलम्भ-शृङ्गार की ही प्रधानता माननी चाहिए। रस के सम्बन्ध में एक

मी विचारणीय है। साहित्यदर्पणकार का मत है "शृङ्गारवीरशांता-
ो रस इष्यते।" अर्थात् महाकाव्य में वीर और शान्त, इनमें से
रही अथवा प्रधान होता है, अन्य सब रस गौण होते हैं, और
के परिपोषक होकर काव्य में पाये जाते हैं। इस दृष्टि से विचार
पर संस्कृत-आचार्यों के मतानुसार महाकाव्य में करुण-रस को
बनाना चाहिए। इसीलिए संस्कृत-साहित्य में न कोई दुःखान्त
र दुःखान्त महाकाव्य। शायद इसलिए भी साकेतकार ने अपने
में करुण-रस को प्रधानता न दी हो, किन्तु इसके उत्तर में तो
ा सकता है कि गुप्तजी संस्कृत-आचार्यों के अनावश्यक बन्धन में
के पक्षपाती नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने हिन्दी-कविता के सम्बन्ध में
र प्रकट करते हुए एक बार लिखा था—

काव्य के कितने ही विषय कवि पर एक प्रकार का दबाव डालते
या में उसकी आवश्यकता न हो, उसमें भी उसे लाने से अप्रास-
डर है। पर उनके बिना महाकाव्यत्व नहीं रहता। वन-विहार-
तु-वर्णन, गिरि-वर्णन, जल-केलि-वर्णन, आखेट-वर्णन और
के वर्णन, सभी महाकाव्यों के लिए आवश्यक समझे गये हैं।
षय में हमें परतन्त्र होना उचित नहीं।"

यह भी सम्भव है कि गुप्तजी ने साहित्यदर्पणकार के नियम
कर करुण-रस को ही प्रधानता दी हो, जब कि भवभूति जैसे
'एको रसः करुण एव'''''इत्यादि द्वारा तथा अँग्रेजी भाषा के
ने—

'Our sweetest songs are those,
That tell of saddest thought.'

व्य में करुण-रस के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। किन्तु
श्न उठता है कि दशरथ को आलम्बन बना कर करुण-रस के
उसी को रुला कर गुप्तजी कौन से अभीष्ट की सिद्धि के लिए

तर्ति होते । यह तो गोस्वामी तुलसीदासजी भी रामचरितमानस में कर ...ते हैं । किन्तु इसके विरुद्ध क्या यह कवि की सबसे बड़ी विशेषता नहीं है उसने विस्मृता उर्मिला के १४ वर्ष के वियोग-वर्णन को इतना अधिक ...स्तार दिया ! यदि यही बात है तो हमें विवश होकर 'साकेत' में विप्रलम्भ शृङ्गार को ही प्रधानता देनी पड़ेगी, यद्यपि इस महाकाव्य के कुछ सर्ग राम-वनवास तथा उससे होने वाले परिणाम के वर्णन में ही समाप्त हो गए हैं । कुछ लोग कह सकते हैं कि 'साकेत' में राम-वनवास ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थल है, और दूसरी बात यह है कि यदि राम-वनवास न होता, तो उर्मिला-वियोग का प्रश्न ही न उठता । किन्तु उपर्युक्त दलील भी लचर जान पड़ती है, जब उर्मिला के सम्बन्ध में सहृदय कवि की सहानुभूति-पूर्ण, मर्मस्पर्शी और चुभती हुई वाणी का रसास्वादन कर हम भाव-सागर में गोते लगाने लगते हैं तब बरबस हमारा ध्यान उर्मिला की ओर चला जाता है ।

उपर्युक्त दृष्टि से विवेचन किये जाने पर 'साकेत' में विप्रलम्भ-शृङ्गार ही मुख्य रस जान पड़ता है । हिन्दी में विप्रलम्भ और करुण रस के सम्बन्ध में धाँधली मची हुई जान पड़ती है । विप्रलम्भ-शृङ्गार का वर्णन करुणोत्पादक अवश्य होता है, इसीलिए हम कह दिया करते हैं—कवि ने कैसा करुण दृश्य उपस्थित किया है ! किन्तु शास्त्रीय विवेचन करते समय हमें शब्दों के सम्यक् प्रयोग पर ध्यान देना ही पड़ेगा । उर्मिला के वियोग-वर्णन को पढ़ कर पाठकों के मन में उसके प्रति करुणा के भाव अवश्य उत्पन्न होते हैं किन्तु ऐसा होने से ही काव्य में करुण-रस की निष्पत्ति नहीं होती । इस विषय में मत-भेद की गुञ्जाइश हो सकती है ।

न्दी की नवीन कविता की कुछ विशेषताएँ

विभावगत विशेषताएँ

हिन्दी की नवीन कविता की रूपरेखा प्राचीन से सर्वथा भिन्न दिखा
ी है। पर ध्यान-पूर्वक देखने से इन दोनों में कोई बहुत बड़ा मौलि
र नहीं दिखायी देता, जो अन्तर लक्षित होता है वह परिस्थितियों
र्तन के कारण। पहिले जीवन में इतनी अस्थिरता, इतना आवश्य
ा। अतः मनुष्य अपने पार्थिव अभावों की पूर्ति के लिए प्रयत्न कर
भी पारमार्थिक चिन्तन की थोड़ी बहुत परवा अवश्य करता था। इस
बहुत से उच्चकोटि की प्रतिभा वाले कवि ईश्वर भक्ति की ओर झुके थे
प्राकृत जन' का गुण-गान करना कविता का दुरुपयोग समझते थे
नीति के क्षेत्र में राजा ईश्वर का अंश समझा जाता था, क्योंकि उस
ईश्वर के *समान रक्षकत्व की भावना की जा सकती थी।* अतः व
हृत जन' से कुछ ऊपर उठा हुआ अवश्य कहा जा सकता था। इसीलिए
ाओं की प्रशस्तियों के भीतर भी उच्च भावों का समावेश हो जाता था
वर्ग के जीवन का जैसा अच्छा प्रभाव दूसरे के जीवन पर पड़ सकता
ना सामान्य व्यक्ति के जीवन-वृत्तान्त से नहीं। *सम्भवतः यही कारण*
उस समय कविता के उपयुक्त विषय ईश्वर, राजा अथवा उच्च वग
क्ति ही समझे जाते थे। पर आज परिस्थिति कुछ भिन्न है। जीवन
क जटिलताएँ आ गयी हैं, ईश्वर सम्बन्धी विश्वास डावांडोल है, राजा औ
ान्य व्यक्ति में कोई तात्विक अन्तर नहीं माना जाता, साम्यवाद जो

पकड़ रहा है। इससे अब कविता में ईश्वर अथवा राजा का कोई विशेष सम्मान नहीं रह गया है। आज मनुष्य जीवन की अनेक समस्याओं से ऊब गया है। फलस्वरूप वह प्रकृति की शरण में जाकर शान्ति पाना चाहता है। सारांश यह है कि वर्तमान कवि के लिए कविता का 'विभाव-पक्ष' व्यापक हो गया है। कवि के सामने राजा और उच्च वर्ग के व्यक्ति ही नहीं आते वरन् अनन्त प्रकृति फैली पड़ी है। धर्म पर निष्ठा न होने के कारण प्राची... ज्ञान श्रद्धा का विषय नहीं रह गया, उस पर अब ऐसा विश्वास नहीं रह गया है कि मनुष्य के हृदय में तरह-तरह की शङ्काएँ न उठें। शङ्काएँ उठ ... कुतूहल का आविर्भाव कर रही हैं। इस कुतूहल में पड़ कर आज का ... जिज्ञासु होकर अनन्त प्रकृति को देखता है, पर उसका कोई विशिष्ट स्व... स्थिर नहीं कर पाता, फिर वह अपनी कविता में स्पष्ट स्वरूप कैसे ... आज आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने के लिए हमारे पास कोई स... नहीं है, पर वह मूल रूप से हमारे साथ बद्ध है। अतः हम संसार के प्र... पदार्थ तथा अनुभूति में आध्यात्मिकता का रङ्ग चढ़ाना चाहते हैं। चा... कृत्रिम ही क्यों न हो; लौकिक में अलौकिकता का आरोप करते चलते ... सारांश यह कि आज का कवि भी अपने 'विभाव-पक्ष' को जगत और ... में ही पाता है। हाँ, परिस्थिति में बँध कर वह उसमें अनेक प्रक... कारीगरी करता रहता है।

भावगत विशेषताएँ

विभाव के अनन्तर जब हम भाव पर आते हैं तो वहाँ भी देखते ... तीन कविता उन्हीं आठों रसों के अन्तर्गत आती है जिनमें प्राचीन ... हुई है। यह कहना कि पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'साधारणीकरण' ... कविता चलती तो वह न जाने कब की मर गयी होती, अपने ... तेपादन दिखलाना है। कविता, कविता तभी कही जायगी ज... साधारणीकरण' करने की शक्ति होगी। हाँ, तो जिस प्रकार प्राची... में शृङ्गार की प्रधानता थी, उसी प्रकार वर्तमान कविता में भी ... सन्देह नहीं कि पुराने कवियों ने स्त्री और पुरुष के शारीरि...

ध्यान दिया है, प्रनाश्चता में जो परम सौन्दर्य छिपा हुआ है उस
रुचि नहीं जाती है। आजकल की कविता भौतिक जगत से ऊंची
मानस जगत की ओर अधिक उन्मुख दिखायी देती है। आलम्बन
की अस्पष्टता के कारण लौकिक रति में भी आध्यात्मिकता का रङ्ग
गा है, रहस्यात्मक कविता में तो रहना ही चाहिए। उनमें तो कुछ
रूप सिद्धान्तों (Mystic d gma) के आभास भी बराबर मिला
कि इस बदे हुए जगत में आत्मा स्वछन्द विचर नहीं पाती; उसके
विचरण के लिए कल्पना अनेक क्षेत्र खोजती रहती है, जहाँ कुछ
देश-काल सम्बन्धी भौतिक नियम बाधक नहीं होते, अतः छाया-
रहस्यवाद के अनुसार भौतिक रूप असत्, पर कल्पना या स्वप्न में
सत्, अर्थात् आध्यात्मिक जगत के आभास हैं।● इस प्रकार की
ी उन्मादपूर्ण विकलता, अनिर्दिष्ट स्मृति और स्वप्न की बाढ़-सी
। रति के वियोग-पक्ष में आजकल के कवियों की वृत्ति पुराने कवियों
ा अधिक कोमल है—दुःख की दशा में भी उत्कृष्ट भावों के लिए
दय में स्थान रहता है, उनके वियोग का स्वरूप इतना त्रासकारी
ा पड़ता। आलम्बन-भेद से रति के जो कई स्वरूप प्राचीनों ने
केये थे, उनको वर्तमान काल में जगह नहीं मिलती। यदि रति का

● "मानस की फेनिल लहरों पर
किस छवि की किरणें अज्ञात
रजत स्वर्ण में लिखती अविदित
तारक लोकों की शुचि बात"

× × ×

"जग के निद्रित-स्वप्न सजनि ! सब
इसी अन्धतम में बहते
पर जागृति के स्वप्न हमारे
सुख हृदय ही में रहते" —पन्त

र दूसरा स्वरूप लिया है जो यह है—ईश्वर विषयक रति में वह पूर्ण
न आकर्षण नहीं मिलता, जो पुराने कवियों के विनय में दिखाई पड़ता
ा। हाँ, ईश्वर विषयक प्रेम तथा सौन्दर्य इत्यादि की यह विशुद्ध रति
मिलती है जिसमें ईश्वर की भावना विज्ञान के रूप में आ गयी है।

राष्ट्रीय भावना के विकास के कारण नवीन कविता में 'उत्साह' का क्षेत्र विस्तृत तो हो गया, अनेक प्रकार की भावनाएँ तो आयीं पर उसमें पद एक ही है। उत्साह विषयक प्राचीन कविता में जीवन के प्रत्यक्ष स्पष्ट के दिग्दर्शन की ओर ही विशेष प्रवृत्ति है, बल्कि पद विभिन्न है। युद्ध-व्यापारादि का वर्णन, हृदय की उमङ्ग, साहस आदि का प्रदर्शन जैसा प्राचीन कविता में हुआ है वैसा नहीं होता। इसके अतिरिक्त वीर-रस की कविता का कोई निश्चित ढङ्ग नहीं है, उसमें 'उत्साह' कहीं 'शोक' के साथ, कहीं 'अमर्ष' के साथ उलझता चलता है।

हास्य-रस के विषय तो नवीन कविता में खूब बढ़े, पर काव्योचित हास्य पर बहुत कम कविता हुई; अधिक मड़ौआ-संग्रह ही रहा। प्राचीन हास्य शुद्ध विनोद की दृष्टि से लिखा जाता था पर नवीन हास्य में उपेक्षा, घृणा, विरक्ति इत्यादि के भाव छिपे रहते हैं।

नवीन कविता में रति की अधिकता तो है ही पर शोक की भी कमी नहीं है। पुरानी कविता में कुछ भक्त कवियों ने लोक की पीड़ा अव्यवस्था आदि पर अवश्य दुःख प्रकट किया है, पर शोक या विषाद मुख्यतः आलम्ब तक ही रहा, किन्तु नवीन कविता में कुछ तो जीवन की कठिनाइयों के कारण और कुछ पश्चिम के निराशावाद (Pessimism) की नकल के कारण शोक की बाढ़ आ सी गयी। यह शोक अनेक रूपों में मिलता है इधर कुछ दिनों से 'अनल-गान'* इसके साथ अलापा जाने लगा है जैसे

* "अनल गीत तू गा निर्भय,
घिर आये ज्वलन्त ज्वाला,
तू पहना दे जग ग्रीवा में
यह अङ्गारों की माला"

ा का स्वरूप और भी अद्भुत हो गया है। पर ध्यानपूर्वक देखने से
उन रूपों का पर्यवसान दो में हो जाता है। (१) आध्यात्मिक दुःख-
मूलक और (२) राष्ट्रीय-मूलक। पहिले में तो कुछ अस्वाभाविकता
यी पड़ती है, पर दूसरे प्रकार के शोक पर अच्छी कविताएँ हो रही
पहिले की भी अस्वाभाविकता वहाँ नहीं खटकती जहाँ व्यक्तिगत प्रेम
। लोक के प्रति संकेत करता है और व्यक्तिगत वियोग-दुःख की ओर
करता हुआ लोकोन्मुख करुणा का आभास देता है:—

"जगती का कलुष अपावन
तेरी निदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे"

× × ×

"सुख का निचोड़ लेकर
तुम सुख से सुख जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में" —'आँसू' से

प्राचीन कविता के क्रोध का कारण शत्रु होता था। आश्रय आलम्बन
नाश के लिए गरजता तड़पता था। पर आजकल के क्रोध का कारण
की दुरवस्था, अन्याय, अत्याचार का साम्राज्य है। यदि वह दुर्व्य-
। दूर नहीं होती, तो कवि सम्पूर्ण भूमण्डल का उसके साथ अपना भी
चाहता है—

"गा कोकिल, बरसा पावक-कण
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बन्धन
पावक पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन" —'पन्त'

इस क्रोध के मूल में सुधार की भावना तो छिपी दिखायी देती है। कवि
हृदय की ज्वाला, क्रान्ति, विद्रोह इत्यादि का भी आभास मिलता है।
इसमें न तो उस वेदना के आवेग का पता चलता है जो इस प्रकार के
र्ष' के मूल में छिपा रहता है और न हृदय को दहलाने वाला क्रोध ही
स्वरूप व्यक्त होता है। हाँ, "कविता का उद्देश्य कविता है" इसका
र्शन अवश्य हो जाता है। कवि की वाणी विश्व-वाणी होनी
ए क्योंकि विश्व-वाणी ही अमर हो सकती है। किन्तु आजकल
कविता चल रही है उसमें अधिकांश कविता उस समय मर जायगी जब
देश की व्यवस्था बदल जायगी। इस प्रकार के क्रोध से लोक-मङ्गल की
ा न करनी चाहिए। पर जो कविता सची राष्ट्रीय-भावना से हुई है उसमें
न और यौवन है। दिनकर और नवीन आदि की कविता इसके
हरण स्वरूप हैं।

उपर्युक्त भावों के अतिरिक्त अन्य भावों का अभाव-सा है। सौंदर्योपा-
के युग में जुगुप्सा आ ही नहीं सकती है। हाँ, भय और आश्चर्य की
ना रहस्यमयी उद्भावनाओं से हो जाती है। पर उनकी पृथक् और स्फुट
ना नहीं हो पाती। इस प्रकार नवीन कविता में प्रधान तीन ही भाव
ते हैं—(१) रति (२) करुणा और (३) उत्साह। पर इनको लेकर भी
ध-काव्य बहुत ही कम लिखे जाते हैं। जो लिखे भी जाते हैं उनमें प्रगी-
(Lyricism)* अधिक रहता है, जीवन की विविध मार्मिक दशाओं
प्रत्यक्षीकरण नहीं। महाकाव्य तो नवीन हिन्दी-कविता में ढूँढने से भी
मिलेंगे, क्योंकि वह सदैव भूत को लेकर चलता है। उसमें कवि को
ीन रूढ़ियों से बहुत अधिक बँधे रहना पड़ता है। पर यह युग प्राचीनता
विरोध का है। प्राचीनता का निर्वाह इस काल में अन्ध-विश्वास कहा
ा है; नव-युग की साधना में वह बाधक समझा जाता है। अतः महा-
य की रचना के लिए जिन नियमों और रूढ़ियों के पालन की आवश्यकता
ी है—उसकी अवहेलना अर्वाचीन कवि जान-बूझ कर करते हैं अथवा

* देखिये श्री० मैथिलीशरण गुप्त की अत्यन्त प्रौढ़ रचना 'साकेत'

र्गोह की उनमें धनता ही नहीं होती। कुछ भी हो पर इतना ही करना पड़ेगा कि महादेवी का हिन्दी कविता में योगनीय है। प्राय वर्त की कविता में जो दोष बहुत अधिक खटकता है वह है अन्विति (Unity of impression) का अभाव। इसके कारण स्थायी स्वरूप का अभाव पाया जाता है।

कलागत विशेषता

हिन्दी की प्राचीन और नवीन कविता में मुख्य भेद भाषा की प्रयोग और अप्रस्तुतों की योजना में पाया जाता है। यह तो स्पष्ट है कि कवि सदा अपनी अनुभूति को लोक-सामान्य भूमि के बाहर से लाने रहा करता, वह श्रोता या पाठक अवश्य चाहता है। पर इधर जब से राजनीति, समाज-व्यवस्था आदि के क्षेत्रों में व्यक्तिवाद की हुई है, तब से उसका समावेश कला के क्षेत्र में भी होने लगा। परिणाम यह हुआ कि कुछ कवि अपनी व्यक्तिगत विशेषता दिखाने इस ढङ्ग से भावों की व्यञ्जना करने लगे जिस ढङ्ग से भावों की सामान्यतः नहीं हुआ करती। कविता का आदर्श भूल कर कविगण द को ठीक उसी प्रकार का आनन्द समझने लगे जिस प्रकार का कमरे में नक्काशी, बेल-बूटे आदि को देखने से होता है। अतः वे अनूठेपन और व्यञ्जना के वैचित्र्य को ही साध्य समझने लगे। सचाई, वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण की ओर उनकी दृष्टि न रही। परिणाम यह हुआ कि अप्रस्तुत रूप-विधान ही में कल्पना का ने लगा है। यह प्रवृत्ति योरुप से भारत में आयी है जिससे सबसे बङ्गला-साहित्य प्रभावित हुआ है और बङ्गला की नकल से हिन्दी- में भी यही बातें आ गयी हैं। अब तो इस बात में हिन्दी के वर्तमान बङ्गला वालों से भी आगे बढ़ गये हैं। केशव ऐसे कुछ कवि उक्ति- की प्रधानता मानने वाले पहिले भी रहे हैं, भेद केवल वैचित्र्य के

एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिए। आजकल अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद, समवेदनावाद इत्यादि अनेक वादों की चर्चा साहित्य- त्र उठा करती है। इन वादों का विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के क्षेत्र , क्योंकि यह वाद या तो साहित्य-गोष्ठियों में विवाद (Table रूप में आते हैं अथवा पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाली समीक्षाओं सामने रख कर जहाँ इनका जन्म हुआ है, वहाँ भी कोई कविता !, भारत की तो बात ही क्या! अतः यह बात नहीं है कि हमारे ायों में मार्मिक अनुभूतियों का पता न हो, अभिव्यञ्जना कला का । वैचित्र्य हो।

र कविता में कवित्त, सवैया इत्यादि प्राचीन छन्दों का प्रायः त्याग रहा है। इनके स्थान में नये-नये छन्दों का विधान (कहीं पर कुछ हर) किया जा रहा है। जहाँ पर केवल नवीनता प्रदर्शन का ी; वरन् संशोधन की दृष्टि रहती है, वहाँ तक यह प्रवृत्ति श्लाघ्य जहाँ व्यक्ति-वैचित्र्यवाद को लेकर यह प्रवृत्ति चलती है, वहाँ हानि पहुँच रही है। इसके अतिरिक्त कुछ छन्द-विहीन कविताएँ जा रही हैं। पर यह देख कर सन्तोष होता है कि उसका प्रचार ी घट रहा है। प्राचीन कवियों—कबीर, सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि कविता में भी गीत लिखे हैं। पर यह गीत उस युग की प्रवृत्ति के ी हैं किन्तु प्रसाद काल को कला की दृष्टि से गीत काल के नाम र कर सकते हैं।

े यह युग रस, अलङ्कार, वृत्ति, इत्यादि के विरोध का कहा जाता यार्थतः इनका त्याग न हुआ है और न हो सकता है। यह बात क उनकी योजना इस नूतन ढङ्ग से होती हो कि उनमें कोई ोर न होते हुए भी नवीनता झलकने लगी हो। पहिले अनेक, ादि की ओर रहती थी और कारण वस्तुओं के रूप पर चलने ा विपर्ययोक्तियों की ओर विशेष प्रवृत्ति है। वस्तुतः अभिव्यञ्जना-

पन्तजी की उत्तरा का युग सन्देश

र कविता को रसात्मक वाक्य कहा गया है तथापि उसमें कोरी शर्बत का मिठास मात्र नहीं, उसमें फलों के रस के पौष्टिक तत्व ।। रस में पानी की तरह बहने की ही शक्ति नहीं होती वरन् क तत्वों का सार और सञ्जीवनी शक्ति भी रहती है। नवीन भावुकता अवश्य है किन्तु उसमें विचारों की प्रेरणा बढ़ती जाती लोग विचारों को कविता के लिए भार स्वरूप समझते हैं किन्तु कवि उन विचारों को कल्पना और कला के पर देकर जड़ भार पए रखता है। विचारों का गुरु-भार भी स्वप्नों की भाँति हलका है और विचारों का भार प्राचीन काल के जड़ अलङ्कारों के भार धिक मधुर और श्रेयस्कर है। मनुष्य में हृदय और मस्तिष्क हैं। आज का कवि हृदय की सरसता के साथ विचार की भी ग्री देता है। इसी को अपने यहाँ कान्ता का सा प्रेम-पूर्वक उप- है। साहित्य 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' को सुलभ बनाता ग को प्रेय रूप देता है। श्रेय और विचार से खाली साहित्य और सारहीन है, वह कोरी खाँड़ का भी नहीं सेकरीन का शर्बत चारपूर्ण साहित्य सद्, शुद्ध और गुणकारक सात्विक वनौषधियों प पौष्टिक अवलेह है।

मित्रानन्दन पन्त उन्हीं विचारक कवियों में से हैं जिन्होंने युग की का अध्ययन कर उनको अपने काव्य में मुखरित किया। त के नव जागरण से प्रभावित हुए हैं। उन्होंने भारत के आध्या-

मिक मिलन को पहचाना है और उसको पश्चिम के जीवन-गौरव का ! माना है। उन्होंने प्राची के अरुणोदय में भू के तम-नाश की सम्भा देखी है।

> "पश्चिम का जीवन-गौरव हो विकसित निज तन्त्र में निर्वारित,
> प्राची के नव अरुणोदय से स्वर्ग प्रवित भू तमस तिरोहित ॥"
>
> —स्वर्ण।

पन्तजी वीणा और पल्लव की कविताओं में तो सौन्दर्योपासक के में आते हैं। किन्तु उस बाह्य सौन्दर्य में भी एक नित्य जगत की है। पन्तजी लिखते हैं—"वीणा काल के प्राकृतिक सौन्दर्य का पल्लव की रचनाओं में भावना के सौन्दर्य की माँग बन गया है, रहस्य की भावना ज्ञान की जिज्ञासा में परिणत होगई है।" शीर्षक कविता में दार्शनिक चिन्तन का सूत्रपात होता है। उसमें में नित्य और अनेकता में एकता देखने और स्थैर्य के प्रति विशेष भावना की झलक मिलती है। युगान्त में नित्य सत्य की भावना मुखरित हो उठती है और उसमें कवि जीवन के भीतर नित्य जग सौन्दर्य को देखने लगता है—

'सुन्दर जीवन का क्रम रे सुन्दर सुन्दर जग जीवन'

'ज्योत्स्ना' में उनके विचार और भी स्पष्ट होते हैं और उसमें चि द्विविध धारा के दर्शन मिलते हैं—एक समदिकवर्तिनी जो अपने ओर देखती है (इसमें भेद-बुद्धि अधिक रहती है) और दूसरी गामिनी, जो ऊपर उड़ कर देखती है, इसमें ऐक्य और का प्राधान्य रहता है। इन दोनों धाराओं का नवीन समाजिकता (वता) में समन्वय हुआ है। पहली प्रवृत्ति (समदिकता) का युगवाणी और ग्राम्या में मिलता है, दूसरी का दर्शन उनके में, अर्थात् स्वर्णधूलि और स्वर्णकिरण में। इन दोनों पुस्तकों में भी बुद्धि उनके साथ रही है, वे लिखते हैं:—ग्राम्या और युगवाणी

नों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है तो स्वर्णकिरण और
में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर। उत्तरा में इन धाराओं
है, इस सङ्गम में दोनों धाराओं को पूर्ण महत्व मिला है।

ा को समझने के लिए सबसे अच्छी व्याख्या पन्तजी द्वारा लिखी
ा है 'तसनीफ रा मुसन्निफ़ नेको कुनद बयां' अर्थात् कृति की
स्वयं लेखक ही अच्छी तरह कर सकता है। पन्तजी की भूमिका
इस प्रकार है:—

तेवाद के सम्बन्ध में पन्तजी लिखते हैं—"मैं आलोचक अपने
विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं, अपने राजनीतिक विश्वासों में
भी हैं। मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त
स्वीकार कर चुका हूँ। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके एक-
र वर्गयुद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमाएँ मानता हूँ।"
तात्पर्य यह है कि वे मार्क्सवाद के समता के लक्ष्य को मानते हैं
र्क्सवाद ने जो वर्गयुद्ध (पूँजीपतियों और सर्वहारा का युद्ध) और
का प्रचार किया है उनको वे मार्क्स के युग की सीमाएँ मानते
ो मार्क्सवाद के जनतावाद को बाह्य रूप मात्र समझते हैं। उसकी
रतीय दर्शन के एकात्मवाद की अन्तर्दृष्टि से करना चाहते हैं
संघर्ष और एकक्रान्ति को आवश्यक नहीं समझते हैं। वे गांधी-
हिंसात्मक साधनों को अधिक महत्व देते हैं। भारतीय दर्शन के
योगी अरविन्द और परिव्राजक विवेकानन्द से अधिक प्रभावित हैं।
ध में पन्तजी के विचार उनकी भाषा में नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

पने युग को मैं राजनीतिक दृष्टि से जनतन्त्र का युग और सांस्कृ-
से विश्व मानवता या लोक मानवता का युग मानता हूँ।.....मेरा
ह है कि केवल राजनीतिक, आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं
ानव जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता।
के सभी आन्दोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए संसार

ीय तया मानव का वाहन नहीं बना सके हैं, वही हम पर आधि-
ा हुए है।

ार्क्सवादियों की भाँति आध्यात्मिकता को भौतिकता का परिमार्जित
नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि वे लोग (मार्क्सवादी) सम-
ऊर्ध्वगामिनी वृत्तियों से सामञ्जस्य न करने के कारण ही इस भ्रांति
े हैं। वे समतल भूमि के यथार्थ और ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति के
ो एक ही अव्यक्त चेतना के दो छोर मानकर दोनों को आवश्यक
हैं। पन्तजी पूर्ण समन्वयवादी हैं। वे आदर्श और यथार्थ का ही
नहीं चाहते वरन् वैयक्तिकता और सामाजिकता का भी समन्वय
। इसी प्रकार वे एकता और विविधता का सामञ्जस्य चाहते हैं।
हैं :—

कता का सिद्धान्त अन्तर्मन का सिद्धान्त है, विविधता का सिद्धान्त
था जीवन के स्तर का, दूसरे शब्दों में एकता का दृष्टिकोण ऊर्ध्व-
है और विभिन्नता का समदिक्'। ऊर्ध्व और समदिक् दोनों ही
वे आदर करते हैं और सत्य का अङ्ग मानते हैं 'इस धरती के
में सत्य का क्षेत्र मानता हूँ, जो हमारे लिए मानवीय सत्य है'
इस में सीमित नहीं रहना चाहते हैं। वे ऊपर और नीचे का
चाहते हैं 'राजनीति का क्षेत्र मानव जीवन के सत्य के सम्पूर्ण स्तरों
अपनाता, वह हमारे जीवन का धरती पर चलने वाला समतल
हमें अपने मन तथा आत्मा के शिखरों की ओर चलने वाले
व सञ्चरण की भी आवश्यकता है; जो हमारे ऊपर के व नर को
ओर प्रवाहित कर समाज के राजनीतिक आर्थिक ढाँचे को शक्ति,
सामञ्जस्य तथा स्थायी लोक कल्याण प्रदान कर सके।' इसी
वि के समन्वय को वे मानवीय संस्कृति मानते हैं। पन्तजी ऊर्ध्व-
वृत्ति को अरविन्द के दर्शन में मूर्तिमान देखते हैं 'श्री अरविन्द
स युग की अत्यन्त महान तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ।
धिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतल स्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन

में एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म लेना होगा जो मानव को राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सम्पूर्ण ... मानव में सन्तुलन तथा सामञ्जस्य स्थापित कर आज के जनवाद को सिर . नववाद का स्वरूप दे सकेगा।"

पन्तजी प्रगतिवाद की मान्यताओं के साथ वर्ग युद्ध को भारत . अनावश्यक और हानिकारक समझते हुए भी एक आवश्यक बुराई में स्वीकार करने को तैयार हो सकते हैं किन्तु सुधार और जागरण को भी जिनको प्रगतिवाद प्रतिगामी और सामन्तवादी और पूँ... ख़ून तथा शराब की सी अस्वस्थ मादकता उत्पन्न करने का ... भरता है, अपनाने को उत्सुक है। वे कवि और अन्तर्द्रष्टा हैं। वे ... और विक्षोभ को जनजीवन के सङ्गीत में बदलना चाहते हैं। ... है कि "विक्षोभ के आर्तनाद तथा क्रान्ति की क्रुद्ध ललकार को ... की पुकार में बदला जा सकता है, एवं क्रान्ति के भीतरी पद को ... कर उसे परिपूर्ण बनाया जा सकता है ...मैं जनवाद को ... तन्त्र के बाह्य रूप में ही न देख कर भीतरी प्रजात्मक मानव ... में भी देखता हूँ।....मैं युग संघर्ष का एक सांस्कृतिक पद भी ... जनयुग की धरती से ऊपर उठ कर उसकी ऊपरी (उच्च) चोटी को अपने फड़कते हुए पङ्ख से स्पर्श करता है' वे जनवाद साम्यवाद की समता को क्रान्तिमय स्टीम रोलर से नहीं लाना ... उसमें जनवाद भी दब सा जाता है वरन् उच्च मानवता के ... सम्पन्न और सरस बनाया चाहते हैं। वे लोक सङ्गठन के साथ ... टन भी चाहते हैं 'मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक सङ्गठन ... टन एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युग चेतना के भीतरी रूप हैं।'

आजकल का युग यन्त्र युग है, तभी यन्त्र की अन्धानुक्ति... रही हैं। ... यन्त्र का मानवीकरण चाहो ... । मानवीकरण ... ... है ...

नीय तथा मानव का शासन नहीं बना सके हैं, वही इन पर आधि-
ये हुए हैं।

मार्क्सवादियों की भाँति आध्यात्मिकता को भौतिकता का परिमाजित
नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि वे लोग (मार्क्सवादी) सम-
ऊर्ध्वगामिनी वृत्तियों से सामञ्जस्य न करने के कारण ही इस भाँति
ते हैं। वे समतल भूमि के यथार्थ और ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति के
को एक ही व्यापक चेतना के दो छोर मानकर दोनों को आवश्यक
हैं। वे पूर्ण समन्वयवादी हैं। वे आदर्श और यथार्थ का ही
नहीं चाहते वरन् वैयक्तिकता और सामाजिकता का भी समन्वय
। इसी प्रकार वे एकता और विविधता का सामञ्जस्य चाहते हैं।
है :—

कता का सिद्धान्त अन्तर्मन का सिद्धान्त है, विविधता का सिद्धान्त
था जीवन के स्तर का, दूसरे शब्दों में एकता का दृष्टिकोण ऊर्ध्व-
है और विभिन्नता का समदिक्'। ऊर्ध्व और समदिक् दोनों ही
वे आदर करते हैं और सत्य का अङ्ग मानते हैं 'इस धरती के
में सत्य का क्षेत्र मानता हूँ, जो हमारे लिए मानवीय सत्य है'
स्व में सीमित नहीं रहना चाहते हैं। वे ऊपर और नीचे का
चाहते हैं 'राजनीति का क्षेत्र मानव जीवन के सत्य के सम्पूर्ण स्तरों
अपनाता, वह हमारे जीवन का धरती पर चलने वाला समतल
हमें अपने मन तथा आत्मा के शिखरों की ओर चलने वाले
सञ्चरण की भी आवश्यकता है; जो हमारे ऊपर के बनर को
और प्रवाहित कर समाज के राजनीतिक आर्थिक ढाँचे को शक्ति,
सामञ्जस्य तथा स्थायी लोक कल्याण प्रदान कर सके।' इसी
वि के समन्वय को वे मानवीय संस्कृति मानते हैं। पन्तजी ऊर्ध्व-
वृत्ति को अरविन्द के दर्शन में मूर्तिमान देखते हैं 'श्री अरविन्द
स युग की अत्यन्त महान तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ।
धिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतल स्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन

में एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म लेना होगा जो मानव को राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सम्पूर्ण धरातलों मानव में सन्तुलन तथा सामञ्जस्य स्थापित कर आज के जनवाद को सित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा।''

पन्तजी प्रगतिवाद की मान्यताओं के साथ वर्ग युद्ध को भारत के अनावश्यक और हानिकारक समझते हुए भी एक आवश्यक बुराई के में स्वीकार करने को तैयार हो सकते हैं किन्तु सुधार और जागरण को भी जिनको प्रगतिवाद प्रतिगामी और सामन्तशाही और पूँजीवाद छुत तथा शराब की सी अस्वस्थ मादकता उत्पन्न करने का भता है, अपनाने को उत्सुक हैं। वे कवि और अन्तर्द्रष्टा हैं। वे और विद्रोह को जनजीवन के सङ्गीत में बदलना चाहते हैं। उनका है कि '''विद्रोह के आर्तनाद तथा क्रान्ति की क्रुद्ध ललकार को की पुकार में बदला जा सकता है, एवं क्रान्ति के भीतरी पक्ष को भी कर उसे परिपूर्ण बनाया जा सकता है'''मैं जनवाद को राजनीतिक संस्था तन्त्र के बाह्य रूप में ही न देख कर भीतरी प्रजात्मक मानव चेतना के में भी देखता हूँ।'''मैं युग संघर्ष का एक सांस्कृतिक पक्ष भी मानता हूँ जनयुग की धरती से ऊपर उठ कर उसकी ऊपरी (उच्च) मानवता चोटी को अपने फड़कते हुए पङ्ख से स्पर्श करता है' वे जनवाद साम्यवाद की समता को क्रान्तिमय स्टीम रोलर से नहीं लाना चाहते उसमें जनवाद भी दब सा जाता है वरन् उच्च मानवता के आदर्शों से समन्न और सरस बनाया चाहते हैं। वे लोक सङ्गठन के साथ मनः ठन भी चाहते हैं 'मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक सङ्गठन तथा मनः [illegible] चेतना के आदर्श

नवीय तथा मानव का वाहन नहीं बना सके हैं, वही हम पर आधि-
पे हुए हैं।

मार्क्सवादियों की भाँति आध्यात्मिकता को भौतिकता का परिमार्जित
नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि वे लोग (मार्क्सवादी) सम-
ऊर्ध्वगामिनी वृत्तियों से सामञ्जस्य न करने के कारण ही इस भ्राति
ये हैं। वे समतल भूमि के यथार्थ और ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति के
को एक ही अव्यक्त चेतना के दो छोर मानकर दोनों को आवश्यक
हैं। पन्तजी पूर्ण समन्वयवादी हैं। वे आदर्श और यथार्थ का ही
नहीं चाहते वरन् वैयक्तिकता और सामाजिकता का भी समन्वय
। इसी प्रकार वे एकता और विविधता का सामञ्जस्य चाहते हैं।
हैं :—

कता का सिद्धान्त अन्तर्मन का सिद्धान्त है, विविधता का सिद्धान्त
तथा जीवन के स्तर का, दूसरे शब्दों में एकता का दृष्टिकोण ऊर्ध्व-
है और विभिन्नता का समदिक्'। ऊर्ध्व और समदिक् दोनों ही
। वे आदर करते हैं और सत्य का अङ्ग मानते हैं 'इस धरती के
ो मैं सत्य का क्षेत्र मानता हूँ, जो हमारे लिए मानवीय सत्य है'
इस में सीमित नहीं रहना चाहते हैं। वे ऊपर और नीचे का
चाहते हैं 'राजनीति का क्षेत्र मानव जीवन के सत्य के सम्पूर्ण स्तरों
अपनाता, वह हमारे जीवन का धरती पर चलने वाला समतल
; हमें अपने मन तथा आत्मा के शिखरों की ओर चलने वाले
व सञ्चरण की भी आवश्यकता है; जो हमारे ऊपर के संचार को
ी ओर प्रवाहित कर समाज के राजनीतिक आर्थिक ढाँचे को शक्ति,
सामञ्जस्य तथा स्थायी लोक कल्याण प्रदान कर सके।' इसी
चे के समन्वय को वे मानवीय संस्कृति मानते हैं। पन्तजी ऊर्ध्व-
वृत्ति को अरविन्द के दर्शन में मूर्तिमान देखते हैं 'श्री अरविन्द
स युग की अत्यन्त महान तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ।
धिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतल स्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन

नवयुग में भौतिकवाद की स्थूल मान्यता बदल रही है। विज्ञान के भूत पदार्थ जड़ नहीं रहे हैं। वे शक्ति प्रेरित स्पन्दनों के केन्द्र हैं। भौतिकता से जगत मानसिकता की ओर जा रहा है। बहिर्जगत चित नहीं रहा है और उसके विस्तार में ही अभीष्ट अन्तर्जीवन का हो रहा है। इसी की अभिव्यक्ति के लिए इस पुस्तक का निर्माण। कवि युग के कोलाहल और क्रन्दन से, जो समतल भूमि की भेद-प्रभावित है, अनभिज्ञ नहीं है। वह युग विषाद, युग छाया और युग उसकी अभिव्यक्ति करता है किन्तु साथ ही उसमें एक आध्यात्मिक भी भर रहा है। कोलाहल आन्तरिक करुणा का उद्दीपन बन जाता है:—

> गरज रहा उर व्यथा भार से
> गीत बन रहा रोदन — युग विषाद

यहाँ तक युग विषाद की अभिव्यक्ति है किन्तु यह आन्तरिक करुणा त करने के लिए ही है।

'आज तुम्हारी करुणा के हित कातर धरती का मन' युग की वास्तविकता दुख की छाया को कवि इस प्रकार प्रकाशित करता है:—

> दारुण मेघ घटा घहराई, युग संध्या गहराई।
> आज धरा प्रांगण पर भीषण झूल रही परछाई॥

किन्तु साथ ही युग की समाप्ति का भी संकेत है:—

> तुम विनाश के रथ पर आओ,
> गत युग का हत शव ले जाओ,
> गीध टूटते, श्वान भूकते,
> रोते शिवा (गीदड़) विदाई! —युगछाया

ये युग के आगमन की पद-झंकार भी तीसरे खण्ड में सुनाई पड़ती है—

> मनुज रक्त से पंकिल युग पथ
> पूर्ण हुए सब दैत्य मनोरथ,

स्वर्ग रुधिर से अभिषिक्त अब,
नवयुग की अरुणाई। —युग छाया

रावणों के मनोरथ युद्धों में पूर्ण हो गये। युग दानव आपसी फूट में मर जायेंगे और मनुष्य और देवता एक हो जायेंगे। इसमें मनुष्य के देवत्व की ओर संकेत है। 'कट मर जायेंगे युग दानव, सुर नर हंगे भाई।' यद्यपि इस की वास्तविकता के लिए यही कहना पड़ेगा कि 'हिनोज दिल्ली दूरस्त' तथापि संसार में प्रयत्न इस ओर भी जारी है। उन्हीं प्रयत्नों को हमें बल देना है। कवि दृष्टि से शोषक और शोषित का भेद भी बाह्य माना गया है।

शोषक है इस ओर उधर है शोषित,
बाह्य चेतना के प्रतीक जो निश्चित —युग सञ्चय

विश्व में जो घृणा और द्वेष प्रेरित क्रान्ति का चक्र चल रहा है उसकी ओर भी वे सचेत करते हैं—

नृत्य कर रही क्रान्ति रक्त लहरों पर,
घृणा द्वेष की उठीं आँधियाँ दुस्तर।
कौन रोक सकता उद्वेग प्रलयंकर,
मर्त्यों की परवशता, मिटते कट मर॥ —युग सं.

किन्तु कवि का आशावाद और मानवता की अन्तिम विजय का विश्वास उसका साथ नहीं छोड़ता है। नये युग में धनिक और श्रमिकों भेद मिट जायगा और खोखला तर्कवाद भी शान्त हो जायगा और निर्माण की शक्तियाँ काम करने लगेंगी। इस मानवता के आगे विद्युत अणु की घातक शक्तियाँ भी नत मस्तक हो जायँगी:—

रक्त पूत अब धराः शान्त संघर्षण,
धनिक श्रमिक मृतः तर्कवाद निश्चेतन।
सौम्य शिष्ट मानवता अन्तर्लोचन
... मौन करती धरती पर विचरण।

× × ×

विगत अश्रु उसके सम्मुख अवनत फन,
वसुधा पर अब नव सृजन के साधन;
आज चेतना का गत वृत्त समापन,
नूतन का अभिवादन करता कवि मन ।

—युग संघर्ष

प्राचीन चेतना का युग समाप्त हो जाता है और कवि नवीन चेतना
ग्रहण करता है। देश को इसी छायावाद की आवश्यकता है; इस नूतन
तों के लाने और भू को स्वर्ग बनाने में भारत का भी हाथ होगा।
: अधिकांश कवियों का ध्यान नव भारत की न्यूनताओं की ओर ही
क गया है। वह भी एक पक्ष है किन्तु राष्ट्रोत्थान के लिये हम को
। के आध्यात्मिक मिशन की भी चेतना होनी चाहिये । पन्त ने उस
ा को जाग्रत कर एक नये आत्मसम्मान की भावना भरी है।

उठे अभिनव विश्व समर में दुर्धर,
लोक चेतना के युग शिखर भयङ्कर।
विश्व सभ्यता दग्ध हृदय में,
व्याप्त हलाहल भीषण ।
अमृत पिये भारत क्या छिद्रवेश,
न प्राप्त संदीपन । —जागरण गान

कवि मानवता के नव आदर्शों को अपनाकर भारत को ऊर्ध्व संचरण
और ले जाना चाहता है और इस देश में भू के स्वर्ग को चरितार्थ करने
उत्सुक है। हमको ऐसे ही स्वप्न द्रष्टाओं की आवश्यकता है । आज के
कल की वास्तविकता में परिणत हो जावेंगे—

विश्व मन : संघटन हो रहा विकसित,
नव जीवन संचरण ऊर्ध्व, भू विस्तृत,
नव्य चेतना केतु फहराता,
नव रक्त हरित दिगन्तर;

तम-पंगु, बहिर्मुख जग में बिखरे मन को
मैं अन्तर सोपानों पर ऊर्ध्व चढ़ाता। —गीत विहग

हमारी साधारण बुद्धि हम को भेदों की ओर ले जाती है जिनसे संघर्ष
है। वह बाह्य दृष्टि है। हमारी अन्तर्दृष्टि अर्थात् हमारा प्रतिम ज्ञान
ी एकता के स्वर्ग में ले जाता है। उसी एकता समन्वित दृष्टि से हमारे
नट जाते हैं और भू पर ही स्वर्ग अवतरित हो जाता है। हमारे जगत
ाँ विनाश की प्रवृत्तियाँ चल रही हैं वहाँ एकता का भी स्रोत बह
है। यही स्रोत हमारे लिए स्वर्ग का दूत है। कवि का यही कर्तव्य है
स एकता के स्रोत को निरावरण कर उसमें मानव मन को अवगाहन
ा। स्वर्ग के सन्देश को जन-जीवन में अवतरित कर के भू को स्वर्ग
दे। कवि एकता के अन्तः स्रोत को प्रकाश में ले आता है और
ो अपने मनोभावों के रूप में व्यक्त करता है।

मैं स्वर दूतों को बाँध मनोभावों में
जन जीवन का नित उनको अङ्ग बनाता,
मैं मानव प्रेमी, नव भू स्वर्ग बसाकर
जन धरणी पर देवों का विभव लुटाता। —गीत विहग

पुस्तक की अनेकों कविताओं में भू की कटुता पर छाए हुए स्वप्नों की
ुभ छाया का आभास मिलता है।

स्वप्नों की कली टूट कर अन्धकार में झड़ जाती है किन्तु फिर भी
का अदम्य आशावाद उसका साथ नहीं छोड़ता है।

युग स्वप्नों की साँझ सुनहली,
बिखरी भू पर टूट ज्यों कली;
जन विषाद में डूब मौन
मुरझाती, रज तम में भौन —स्वप्न कांत

संसार में जो भलाई और सतोगुण का स्रोत है जिस को हम ईश्वर
कह सकते हैं, वह सदा अपने उन्नयन कार्य में अपराजित रहता है,

विश्व का विकास क्रम जारी रहता है और युगों के कटु अन्तर को काल की कराल दंष्ट्राओं से ध्वस्त करता रहता है। संसार उसी सतोगुणी शक्ति के बल पर जीवित रहता है।

जब जब गिरता तमस अरवचित
विश्व शक्तियाँ होती अनहत,
तुम चिर अपराजित रह जाते
जग में स्वर्ण युगान्तर। —स्वर्ण गीत

यह शक्ति नव मानवता का रूप धारण कर संसार में आती है।

आने को अब वह रहस्य क्षण,
तुम नव मानव मन कर धारण,
पीस रहे दंष्ट्रा कराल घन,
युग युग के कटु अन्तर। —स्वर्ण

इसमें भगवद्गीता के विराट रूप दर्शन में आये हुए 'त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्रा करालानि भयानकानि' की छाया है।

संसार को स्वर्ग बनाने के लिए संसार के दुखों को भगवान करना अर्थात् उसको व्यापक दृष्टि से देख कर उसका उचित आवश्यक है और उसी के साथ आत्मदान भी। तभी इस संसार के घाव भर सकते हैं। अपने आत्मदान से ही हम संसार की दूर कर सकते हैं। विषमता तभी दूर होगी जब हम त्याग की करेंगे। दूसरों का धन हड़पने और अपने सुख-भोग को अधिकाधिक से संसार की विषमताएँ दूर नहीं हो सकती वरन् वे बढ़ती ही। विचार का मंथन आवश्यक है। आन्दोलन और संघर्ष के अस्ति और उसकी सार्थकता को कवि स्वीकार करता है किन्तु मू विचार साथ मानवता की नव चेतना का आगमन भी बाहर का संघर्ष और भीतर की करुणा और पीड़ा मनुष्य की कल्याण प्राप्त कर एक नवीन उपवन का रूप धारण कर लेंगी:—

स्पर्शों का आवेग आर उठ
विश्व सत्य के पुलिन डुबाता—
लहरा शाश्वत के जीवन में —ग्राम्या

कवि का मन इस अन्तःसन्देश से स्पन्दित हो एक नई दीप्ति और एक नये प्रकाश का अनुभव करता है।

इस उठता उर का अन्धकार,
नव जीवन शोभा में दीपित,
भू पुलिन डुबाता स्वर्ग द्वार
रहता कुछ भी न अचिर सीमित —ग्रा.

यहाँ कवि हृदय की उस मुक्तावस्था को पहुँच जाता है
शुक्र ने रस दशा कहा है और जिसकी साधना सची कविता कहलाती है
हम भी उस दशा को प्राप्त हो सकते हैं यदि हमारा हृदय कवि
साथ स्पन्दन करे। यह तभी हो सकेगा जब हम अपने को वैयक्तिक
और निजी स्वार्थों तथा ईर्ष्या द्वेष की कारा से मुक्त कर सकें। कवि के
संसार बदल जाता है। भौतिक जगत की सीमाएँ विलीन हो जाती
और जीवन का अचिरत्व मिटकर एक शाश्वत छटा के दर्शन होने लगते
हमारे लिए भी वह बदल सकता है, यदि नर मानवता के संदेश
:।

र का सम्पर्क—'सागर सा उफनाता मूजन' और भीतर का
र पर्वत खड़े भीम, उड़ते तृष्णा, अज्ञान, अर्द,
ना सिन्धु आन्दोलित अवचेतन का तम) सब विलीन हो जाते
ों के शब्दों में 'भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः'
शब्दों में—

मन स्वर्ग शिखिर पर महराता,
उर में गहराता नव जीवन,

का स्वर्ग पृथ्वी पर आ जाय और आशाओं के स्रोत मिलकर जीवन की लहर तरंग रूप में प्रवाहित होने लगें।

जन जन की आशा अभिलाषा
छिपे नहीं कह पाती मार,
जग जीवन के सूत्र रूप में
हो सन्तोष प्रवाहित।

कवि जन जीवन के साथ स्वर्ग के आदर्शों का मधुर मिलन चाहता है। पृथ्वी स्वर्ग की ओर उठे और स्वर्ग के प्रतिबिम्ब स्वरूप शाश्वत सत्यों की छाया मानव हृदय पर पड़े। वह ज्ञान और भावना; बुद्धि हृदय के शुभ मिलन में स्वर्ग और पृथ्वी के परिणय के दर्शन करता है फिर स्वर्ग के आदर्श पृथ्वी के हृदय को आन्दोलित करने लगेंगे।

नभ के स्वप्नों से
जग जलधि हो रहस्य-स्वलित,
जो अमर प्रीति से
हृदय रहे नित आन्दोलित !

× × ×

फिर ऊर्ध्व तरङ्गित,
हो जन धरणी का जीवन,
शाश्वत के मुख का
मानव मन हो दर्पण !

× × ×

फिर स्वर्ग झनकार
भू की हृत्तंत्री निश्चय,
जो ज्ञान भावना,
बुद्धि हृदय का हो परिणय।

कवि को इस परिचय के फलस्वरूप संसार दैवी सुन्दरता से व्याप्त दिखाई देने लगता है। संसार की प्रत्येक क्रिया में भगवान की सामञ्जस्यमयी का स्पन्दन सुनाई पड़ता है। सारा संसार एक शोभा का उत्सव बन है और सारा विश्व मङ्गल ध्वनि से गूँजने लगता है।

अरुणोदय नव, लोकोदय नव। —जीवन उत्सव

इस प्रकार पृथ्वी और आकाश का आदान-प्रदान होता है। कवि न की लोकोत्तर विभूति को जग जीवन में उतार कर उसको समृद्ध ा चाहता है। संसार की पीड़ा से थके हुये मानव को कवि ईश्वरीय ा का संबल देता है—

जीवन-बाहों में बाँध सकूँ,
सौन्दर्य तुम्हारा नित नूतन।
जन मन में मैं भर सकूँ अमर
सङ्गीत तुम्हारा सुर मादन। —युग दान

यद्यपि जड़ भौतिक पदार्थ आदर्शों की गतिमयता को रोक नहीं सकते न का विकास अवश्यंभावी है—'तुम क्या घनत्व में बाँधोगे द्रव की ेयता, निर्मम जड़त्व में आँकोगे जीवन की चेतन कोमलता।' तथापि सत्य में मिट्टी और आकाश दोनों का स्थान है। वे एक दूसरे की खिल्ली उड़ायें पे एक दूसरे के लिये अनिवार्य हैं।

तुम भार उन्हें कहते, हँसकर
वे तुमको मिट्टी का ढेला!
वे उड़ सकते, तुम भड़ सकते,
जीवन तुम दोनों का मेला —सत्य

इसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन के लिये पश्चिम की जड़ भौतिकता और पूर्व ऊपर उड़ने वाली आध्यात्मिक चेतना आवश्यक है। सत्य में जड़ ा आत्म अनन्त सबकी स्थान है।

इस संग्रह में चार सर्गों के मिलन के गीतों के अतिरिक्त, प्रकृति, प्रेम प्रार्थना सम्बन्धी कविताएँ भी हैं। प्रकृति के वर्णनों में प्रायः वर्षा के

...शरदागम, शरद-चेतना, चन्द्रमुखी,
...ी, वनश्री, वसन्त श्री, रत्न मङ्गल आदि कविताएँ उपस्थित की जा
...हैं। प्रकृति के वैभव का वर्णन, जैसा पल्लव आदि की कविताओं में
...शोभा-सुषमा से प्रभावित होकर हुआ है वैसा नहीं है। यहाँ तो प्रकृति
...योग अधिकांश में रूपकों और प्रतीकों के रूप में हुआ है। जैसा हम
...के हैं कवि के जीवन में व्याप्त सङ्घर्ष को चित्रित कर उसी के साथ
...प्रधान नवीन सृजन की मङ्गल आशा प्रकट की है। प्रकृति को भी
...ौर भावना की इन्हीं दोनों धाराओं में बाँधा है। मेघों का गर्जन-
...याय के प्रति विद्रोह का प्रतीक है। वर्षा करुणा और नव सृजन
...क है।

...घन सांसारिक आपत्तियों के प्रतीक हैं 'जब जब घिरे घनत
...न अज्ञान का प्रतीक है 'तुम तन का आवरण उठाओ'। '
...शिशिर और वसन्त निर्जीव पुरातन के नाश और सृजन के प्रत
...ाधा शोभा के मधुवन शिशिर वसंत जहाँ रहते चरण' नीचे
...कृति में व्याप्त रस, सौन्दर्य और सङ्गीत का वर्णन है। यह भाव
...ृति के प्रसार से उत्पन्न होता है।

रङ्गों में गाता कुसुमाकर,
सौरभ में मलयानिल निःस्वर
नील मौन में गाता अंबर
मधुर तुम्हारा स्पर्श पा अमर! —मौन सृजन

...पर्वत में प्रकृति का कुछ उग्र रूप देखने को मिलता है। इसमें
...में व्याप्त सङ्घर्ष की द्योतक बनकर आती है। इसमें प्राकृतिक
...पमाएँ हैं।

...यों की चल भूमि वह रहे जहाँ उनचास पवन' यहाँ कवि कुछ
...यों से प्रभावित है। भूमि को अपने यहाँ अचला कहा गया है।

नेतना, चन्द्रमुखी और शरद भी। इनमें जीवन की आशा आ
कामना प्रस्फुटित हो रही है। शरदागम में थोड़ा ...

मङ्गलाशा की छटा देखिए:—'खोल निसर्ग रहा निज
मन में खिल सुन्दर', उद्दीपनत्व का भी रूप देखिए—

आज मिलन को उर अति विह्वल मानस में स्वर्गों का
झर झर पड़ता किन स्मृतियों में घुलना चिर

ऐसी ही वैयक्तिक प्रेम की झाँकी हमको 'अनुभूति'
मिलती है। इन वैयक्तिक प्रेम की कविताओं में भी आशावाद

अन्त में भगवान के स्तवन की भी कुछ कविताएँ हैं।
के प्रकृति विशेष भारत की प्रकृति में व्यक्त विराट रूप के

> हेमचूड़ पर स्वर्ण रश्मि प्रभ
> ज्योति मुकुट जाज्वल्य शीर्ष पर,
> शत सूर्योज्वल कुन्तल कोमल
> स्फुरत किरण मण्डित मुख सुन्दर,
> शद्दल वक्ष विशाल सिन्धुवत्
> विश्व भार भर अंश धुरन्धर
> करुणा कलित बाहु बन्द कर
> मृत्यु कलुष हर बाढ़ धनुष शर
> बढ़ते युग युग चरण, छोड़ निज
> अक्षय चिह्न समय के पथ पर
> विश्व हृदय शत दल पर स्थित हुए
> हृदयेश्वर जगदीश परात्पर

इनकी भाषा कुछ अधिक संस्कृत गर्भित है। इन
के सौन्दर्य दीन (यथा करुणा आदि) और (शक्ति
ऐसे गुणों की अभिव्यञ्जना हुई है।

मानव युग के उद्भव की सूचना मिलती है। 'कामायनी' का कथा
संक्षेप में इस प्रकार है—

'जलप्लावन के बाद देव-सृष्टि का अवशिष्ट मनु (मनोमय कोश में स्थि
त) अपने को अकेला देखकर अत्यन्त चिन्तित होता है। किन्तु क्रमश
के आगमन के साथ उसमें आशा का सञ्चार होता है और प्रलय क
थमने पर वह अग्निहोत्र आरम्भ कर कर्ममयी देव संस्कृति का आवाहन
ता है। तभी अकस्मात् कामगोत्रजा श्रद्धा (कामायनी) से उसकी भेंट होती
श्रद्धा उसे तपमय जीवन से हटाकर ममता-सम्पन्न मानव-जीवन की ओर
करती है। इसी समय काम के स्वर मनु को सुन पड़ते हैं और उस
में वासना जगती है। जलनिधि से बचे हुए असुर पुरोहित किलात
कुलि उसे पशुयज्ञ के लिए आमन्त्रित करते हैं और मनु एक निर्म
के रूप में हमारे सामने आता है। श्रद्धा को इससे विरक्ति होत
तब तक आसन्न प्रसवा हो चुकी थी। अतः वह भावी मानव के
सुन्दर लताकुञ्ज का निर्माण करती है। मनु श्रद्धा का प्रेम बँटा
ईर्ष्या से जल उठता है और उसे असहाय छोड़कर चला जाता
बाद उसका परिचय सारस्वत प्रदेश की अधिष्ठात्री देवी इड़ा
होता है। इड़ा उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश का शासन-सूत्र मनु के
में देती है। मनु इड़ा के सहयोग से कर्मों का विभाजन कर वर्ण-
व डालता है और व्यवसायात्मिका बुद्धि का चक्र विस्तार
ता है। मनु सारस्वत प्रदेश का एक-छत्र सम्राट बन जाता
ने से भी सन्तोष नहीं होता। उसके मन की निराशा अधि
को भी अपने बाहुपाश में जकड़ा हुआ देखना चाहती
प्रजा का विद्रोह होता है, और प्रजापति मनु आहत हो
है।

श्रद्धा, जो अब तक मानव की जननी बन चुकी थी, स्वप्न
विषमावस्था से परिचित होती है और वह उसे खोजती-खोजती
पहुँचती है। पागल मनु को देखकर उसकी करुणा उम

'कामायनी' का नायक मनु है। यह मनोमय कोश में स्थित
नैतिक मननशील मन का भी प्रतीक है—'मन्यते अनेन इति
ों में मनु का उल्लेख भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ है। कहीं उसे
ाना गया है, कहीं ऋषि, कहीं अन्य औषधियों का प्रयोग .
ेता। प्रसादजी ने उसे मुख्यतया चेतना के रूप में ग्रहण किया है।
ुल लक्षण हैं 'अहङ्कार' और 'अस्मिता'—'मैं हूँ' तथा 'मैं रहूँ'।
दों में सङ्कल्प-विकल्प को मनु की प्रजा कहा गया है। ये ही
िकल्प यहाँ अहङ्कारूपी मनु के सञ्चारी दिखलाए गए हैं
'कामायनी' में मनु का चरित्र परिवर्तनों की स्थिति से आगे
हुआ दिखलायी देता है। वह एक तपस्वी से आरम्भ होकर
काण्डी, वर्णों के नियामक, प्रजापति आदि की सीढ़ियाँ पार
अन्त में पूर्ण आनन्दवादी बन जाता है। इस प्रकार मनु में
प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण परिचय मिलता है। एक ओर वह अति
दूसरी ओर निर्मम तार्किक, कहीं विलासी तो कहीं उदासीन।
की सत् और असत् प्रवृत्तियों का संघात रूप है। दीर्घ-लघु,
हृदय-बुद्धि, राग-विराग आदि सभी मानवीय विशेषताओं का मनु
श्रण है। इसलिए उसका चरित्र इतना आकर्षक हो गया है।

पर 'कामायनी'—जैसा नाम से ही स्पष्ट है—पुरुष-प्रधान .
पुरुष तो केवल माध्यम है। कथा का सूत्र वस्तुतः नारी ..
कामायनी के हाथों में रहता है। प्रसाद की सुकुमार नारियाँ
के सरस परस की भाँति जीवन को एक पुलक-पुलक से भर
नीलिमा में विलीन हो जाती हैं। 'कामायनी' की नारी में
सृष्टि पूर्णता को प्राप्त होती है। कथानक की नारि .
का प्रतीक है। उसका यह प्रतीकत्व ऋग्वेद-काल में ही
था—'श्रद्धाऽऽस्य माहात्म्य भद्रय निन्दते वसु' प्रसाद ने भी
.. है—'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार,'
उसे कामगोत्रजा (कामायनी) कहा गया है। किन्तु

' का पर्याय न हो कर अपने अत्यन्त व्यापक रूप में व्याक पंच तथा
ा के आत्म-विस्तार की समस्त क्रियाओं का मूलाधार है। शुक्लजी ने
ीक ही 'विश्वात्मयी रागात्मिकावृत्ति' कहा है। 'उसका निर्माण अनन्त
निश्छल सहृदयता और स्वाभाविक कोमलता से हुआ है। ममता
ो अमोघ शक्ति है। उसमें हम चेतना की दीप्ति, हृदय का अनुराग-
ग एवं वात्सल्य का व्यापक वरदान पाते हैं।' (ग० प्र० पाण्डेय)
प्रसाद की नारी का वह आदर्श चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ जो
का, देवसेना, मालविका और कोमा के माध्यम से पल्लवित हो रहा
वह अमला इस संसृति में प्रेमकला का सन्देश सुनाने के लिए अव-
ा हुई है—

> "यह लीला जिसकी विकस चली,
> वह मूलशक्ति की प्रेमकला।
> उसका सन्देश सुनाने को,
> संसृति में आई वह अमला॥"

इसके विपरीत इड़ा बुद्धि तत्त्व का प्रतीक है, तर्कमयी प्रवृत्तियों की
ेका। जहाँ श्रद्धा अनन्त करुणामयी है, वहाँ इड़ा अनन्त प्रेरणामयी।
। यदि कल्पना सी कोमल है तो इड़ा यथार्थ सी परुष। श्रद्धा भावना-
है, इड़ा विचारात्मक। वह जीवन की सरलता से अधिक उसकी
प गतिशीलता की पुजारिन है। मनोवृत्तियों का यही अन्तर उनकी
ति में भी मुखरित हो उठा है। देखिए, यह है श्रद्धा—

> "नील परिधान बीच सुकुमार,
> खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग।
> खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
> मेघ वन बीच गुलाबी रङ्ग॥"
> "आ कि नव इन्दु नील लघु शृङ्ग
> फोड़कर धधक रही हो कान्त;

एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।
घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास;
नील घनशावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुस्कान!
रक्त किसलय पर ले विश्राम;
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।
नित्य यौवन-छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण कामना-मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।
उषा की पहली लेखा कान्त
माधुरी से भीगी भर मोद;
मदभरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक-द्युति की गोद।
कुसुम कानन-अंचल में मन्द
पवन-प्रेरित सौरभ साकार;
रचित परमाणु पराग शरीर,
खड़ा हो ले मधु का आधार।"

इस भावात्मक सहज, सरल आकर्षण के प्रतिरूप श्रद्धा का चित्रण है—

"बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम
शशिखण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।

दो पद्म-पलाश चषक-से दृग
देते अनुराग-विराग ढाल।
गुञ्जरित मधुप से मुकुल-सदृश
वह आनन जिसमें भरा गान।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे
संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म कलश
वसुधा जीवन रस सार लिए।
दूसरा विचारों के नभ को था
मधुर अभय अवलम्ब दिये।
त्रिवली थी त्रिगुण तरङ्गमयी,
आलोक-वसन लिपटा अराल।
चरणों में थी गति भरी ताल॥"

इस चित्रण में अन्य स्पष्ट अन्तरों के साथ एक यह भी प्रमुख अन्तर
कि कलाकार प्रसाद ने जहाँ श्रद्धा के वर्णन में छोटे क्षिप्र छन्द का प्रयोग
या है, वहाँ इड़ा का चित्र लम्बे, मन्थर, गेय पद द्वारा प्रस्तुत किया
ा है। श्रद्धा ने मनु के प्रति आत्म-समर्पण किया था, इड़ा उसे बन्दी
ाकर रखना चाहती है। श्रद्धा के समर्पण में त्याग की भावना थी, इड़ा
स्वागत में कार्य सिद्धि की साध है। वह शासन करने वाली है—'इडा
ण्वन्मनुषस्य शासनीम्' (ऋग्वेद)। इसीलिए वह मनु की वासनाओं
उपशमित करने के स्थान पर और भी भड़का देती है, और फलस्वरूप
ावतः मनु का पतन होता है। लेकिन स्वार्थ परायण मनु के लिए इड़ा
ाँ अभिशाप-सी सिद्ध होती है, वहाँ श्रद्धायुत मानव के लिए यह वरदान-
ा है। कामायनी स्वयं मनु को खोजने जाते समय इड़ा को अपना
ास पात्र समझ कर अपने कलेजे के टुकड़े मानव को उसे सौंपती है—

"हे सौम्य, इड़ा का शुचि दुलार;
हर लेगा तेरा व्यथाभार।

यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय ॥"

इड़ा और कुमार का यह सहयोग हृदय और बुद्धि-तत्त्वों का
है और है नूतन मानवता के विकास का स्वस्थ शक्ति चिह्न।

प्रसादजी आनन्दवाद के पुजारी थे। उनके अनुसार शुद्ध निर्वै
नता और आनन्द की प्राप्ति ही मानव का चरम लक्ष्य है। 'कामायनी'
रचना मानव मन की उस सनातन भावना का परिणाम है जो
से जीवन और जगत के अन्धकारमय अंश को विदीर्ण कर एक
और शाश्वत सुख की ओर अहर्निश, अविरत उन्मुख है।
मूल में जो आध्यात्मिक तत्त्व है वह शैवतत्त्वज्ञान के आनन्द तत्व
आधारित है और उसकी विवेचना कवि की मौलिकता है। दर्शन क
अन्त में प्रसादजी ने मनु को नटराज के दर्शन कराए हैं। काव्य की
नर्तित नटेश का साकार रूप अन्तर्जगत की उपलब्धियों की दृष्टि से
स्वरूप चैतन्यात्मा की पावन अनुभूति का रूप है, जिसमें वह ..
रहस्य से अवगत होती है। नटराज भारतीय आध्यात्म और
विलक्षण कल्पना है। आध्यात्म और दर्शन की भूमि पर जिसे
मस्तिष्क ने आनन्द-स्वरूप चैतन्यात्मा कहकर स्वीकार किया था, उ
कला और संस्कृति के क्षेत्र में भारतीय हृदय ने सृष्टि-सङ्गीत के ...
नाट्य प्रवर्त्तक नटराज के रूप में मूर्त्त कर दिया है। नटराज के
मनु के हृदय के अज्ञानान्धकार का नाश हो जाता है और
'चिति' शक्ति जागरित होती है। यही 'चिति' शक्ति अपने
तिरोभाव रूपी दोनों पदों से सृष्टि का उन्मेष-निमेष (सृजन-संहार)
रहती है—'सा एकापि युगपदेव उन्मेष-निमेषमयी' (स्पन्द-सन्दोह

आगे चलकर रहस्य सर्ग में श्रद्धा मनु को भाव, कर्म और
के दर्शन कराती है। भावलोक का रङ्ग रागारुण है और वहाँ
तितलियाँ घूमा करती हैं। उसमें पञ्चतन्मात्राओं की सम्मोहिनी है,
धारा बिछाकर जीवों को फाँसती रहती है। कर्मलोक श्यामल गं

जहाँ नियति प्रेरणा बनकर सबों को नचाया करती है। वहाँ कोलाहल है, विकलता है। वहाँ केवल स्थूल साकार पञ्चभूतों की होती है। अन्तिम ज्ञानलोक उज्ज्वल है, जहाँ बुद्धि का चक्र से चलता रहता है। यहाँ अनास्था है, शङ्का है, तृष्णा है और यहाँ विज्ञान द्वारा अनुशासित शास्त्र शास्त्र-रक्षा में पलते हैं। वहाँ ाधि विधान सामञ्जस्य के स्थान पर विषमता और घात ही फैलाते ही नहीं, वर्तमान मानव-जीवन के पराभव का भी यही रहस्य है ि ये तीनों वृत्तियाँ—भाव, कर्म और ज्ञान—पृथक, प्रायः विपरीत में प्रवहमान हैं—

"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके-
यह विडम्बना है जीवन की॥

द्धा की मुस्कान एक ज्योतिरेखा बन कर तीनों ज्योतिपिण्डों को ती है,।जिसके परिणामस्वरूप मनु के सारे क्लेश, सारी विडम्बनाओं । हो जाता है। यही पौराणिक त्रिपुरदाह की वैज्ञानिक-काव्यात्मक है। और इसके बाद श्रद्धायुत मनु पूर्ण आनन्द में लीन हो जाते ादजी ने दिखाने की चेष्टा की है कि श्रद्धा और विज्ञानमयी बुद्धि, सुविकसित रूप का सुन्दर सामञ्जस्यपूर्ण समन्वय मानव जीवन का ल्याणमय आदर्श है। इस आदर्श की आराधना वैयक्तिक मानव । को 'अहम्' की ऐकान्तिक विकास-जनित विकृति से मुक्त करके ाग समन्वित सामूहिक जीवन की मङ्गलमय चेतना में एक रूप बन हो जाने की प्रेरणा देती है।' (गङ्गाप्रसाद पाण्डेय)यही 'कामा- ा सन्देश है।

ाँ एक आपत्ति आचार्य शुक्ल ने उठाई थी कि श्रद्धा जब रति और जाया है अर्थात् जब उसकी स्थिति भी भावात्मक है तो उसका भाव, कर्म और ज्ञान तीनों से पृथक कैसे सम्भव हो सकता है?

पर प्रसाद ने श्रद्धा को केवल हृदय (लिबिडो) का ही
आस्तिक बुद्धि का भी प्रतीक माना है। वह नारी भावना की
द्योतक है। कवि के ही शब्दों में—

"नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में॥"

'कामायनी' छायावाद की अन्यतम कलाकृति है। यह
रचना सम्पूर्ण छायावादी मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है।
में प्रकृति का जितना विशाल चित्रपट प्रस्तुत किया गया है,
हिन्दी के किसी दूसरे कथा-काव्य में नहीं—'मानस' में भी
रचना में प्रकृति अपने नाना रूपों में सामने आती है। कहीं
कान्यात्मक रूप है, कहीं रहस्यात्मक—सांकेतिक। वह आलम्बन
उपस्थित है, कथा-सूत्र का आधार बनकर भी। पुस्तक का
भयङ्कर चित्र से होकर अवसान एक अतीन्द्रिय ऐश्वर्य
होता है। इनके अतिरिक्त 'कामायनी' में सैकड़ों मादक,
विराट् चेतन प्रेरणीय चित्र—सब एक से एक—यत्र-तत्र
प्रसादजी ने प्रकृति का उपयोग अलङ्कार रूप में उपमान जुटाने
किया है। सुन्दर उपमानों की मदिर मादकता से 'कामायनी'
सुरभित है। उसमें मानुचित्रों का अतिरेक है, जिसके कारण
दब सा गया है। प्रकृति के जिन अंगों तथा रूपों का प्रसाद
आयोजन किया है, वह हिन्दी को उनकी अपनी देन है। प्रसाद
कवि हैं। उनकी तूलिका प्राकृतिक चित्रों का अंकन तम प्रकट
है। उनके चित्र सजीव हैं, कल्याणप्रद, सौंदर्यपूर्ण।

प्रसाद की शैली की विशेषता है उसकी मादकता,
लिखा, १८ से पहले की ओर जाने की प्रवृत्ति, समुन्नयन
कहीं दबनित कठिनता। बाबू श्यामसुन्दरदास का यह कथन

उसमें व्याकरण की नियम-बद्धता नहीं, पर कोमलता है, ...
और भावों का वह आरोह-अवरोह है जो एक साथ ही हृदय और
दोनों पर गहरा प्रभाव डालता है। 'कामायनी' द्विवेदी ...
वृत्तात्मकता और रूढ़िबद्धता के संगमरोध पर खड़ी एक
कृति है। यह उन लोगों के लिए एक चुनौती है जो खड़ी ...
मार्गहीन और अकाव्योपयोगी मानते रहे। प्रसाद की ...
वस्तुओं का भी मानस-चित्र सफलता से अंकित कर देती है। -
शक्ति से बहुत अधिक लक्षणा और व्यञ्जना से काम लिया ...
नाट-यकता उसकी विशेषता है। आरम्भ से अन्त तक ...
है। प्रागैतिहासिक वातावरण की सृष्टि के लिए उसमें 'इड़ा',
'पुरोडाश', 'लोम', 'प्रभानर', 'अलंकुश' जैसे एकान्त
भी प्रयोग किया गया है। अलङ्कारों में पुराने ..
उत्प्रेक्षा, प्रतीकों की तो भरमार है ही, नये पाश्चात्य अलङ्कार
र्यय, अमूर्त-संस्थापन, मानवीकरण प्रवृत्ति का भी कम
है। प्रसाद कवि होने के अतिरिक्त नाटककार भी थे। अतः
नक को स्थल-स्थल पर नाटकीय मोड़ दिये हैं, जिससे
यता कहीं अधिक बढ़ जाती है।

फिर भी कामायनी को शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार
संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह ठीक है कि उसका वि-
है, उसमें आठ से अधिक (पंद्रह) सर्ग हैं और प्रत्येक
बदलते गए हैं। साथ ही वह प्रेम और उपेक्षा से
जिसका पर्यवसान शान्त रस में होता है और
है। किन्तु जिस विशिष्ट शैली में उसकी रचना हुई
उसका सन्देश कितना भी महान् हो, वह महा-
एक विशाल गीतिकाव्य मात्र रह जाती है। ...
द्यायावादी दृष्टिकोण से एक प्रधान गुण है, वहीं -
भी आहत करती है। उसका वह गीत—

कवि पन्त के चार रूप

शेष जगत के साथ कवि-हृदय का रागात्मक सम्बन्ध होने से
दनायें, जो प्रभाव कवि ग्रहण करता है, उन्हें रस-पूर्ण रमणीयता
काव्य रूप में उपस्थित करता है।

जगत प्रति पल परिवर्तित होता है। एक ही दृश्य, एक
एक ही संवेदन स्थिर नहीं होते हैं। जागरूक कवि, समय के
के साथ कदम मिलाये चलता है। 'जग बदलेगा किन्तु न
लकीर पर डटा नहीं रहता—क्योंकि वह एक सजग चिन्तनशील
इसी से युग के साथ, समाज के साथ वह अपने पथ में अग्रसर
युग की बदलती हुई परिस्थिति और मनोदशा के अनुकूल अपने
परिवर्तन भी करता जाता है। युग के स्पर्श तथा संवेदन उसे
करते रहते हैं—वह बच नहीं पाता—भावुक हृदय युग की छाप
ही जाता है।

आधुनिक हिन्दी-जगत में अनुपम कल्याणकर व्यक्तित्व लिए
प्रतिष्ठित होते हैं—जिनकी काव्य-धारा ने समय और समाज
दिशा बदली—विचार बदला—आदर्श बदला और मान्यतायें
'वाद' विशेष के दलदल में अधिक फँसे नहीं रहे—यही उनके
विशेषता है।

कवि पन्त अपने काव्य जीवन में चार रूप में उपस्थित
१—छायावादी, २—दार्शनिक, ३—प्रगतिवादी,

छायावादी स्वरूप—छायावाद की परिभाषा समीक्षकों ने भिन्न-भिन्न
त की है। छायावाद के संस्थापक प्रसादजी इसका सम्बन्ध प्राचीन
सिद्धान्त से जोड़ते हैं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी इसे अभिव्यक्ति की
शैली मानते हैं। नन्ददुलारेलाल वाजपेई कहते हैं :—
"प्रेम और सौन्दर्य की सूक्ष्म मानसिक विवृति में कल्पना जब समर्थ
है और यत्र-तत्र यही कल्पना आध्यात्मिक उड़ान भी लेती चलती है,
प्रचलित शब्दावली में छायावाद कहा जाता है" कल्पनात्मक आध्या-
उड़ान में जो रहस्यात्मक अभिव्यञ्जना होती है वह छायावाद के ही
त आती है।
महादेवी वर्मा छायावाद की पृष्ठभूमि उपस्थित करती हुई कहती हैं :—
'छायावाद के आविर्भाव के पहिले कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच
और शेष जगत के हाहाकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था
नाकार का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। फलस्वरूप
छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया, उपयुक्त
और मुझे भी उपयुक्त लगता है" महादेवीजी छायावाद को स्थूल के
सूक्ष्म का विद्रोह मानती हैं—यह सूक्ष्म अभिव्यक्ति है जो व्यक्तित्व
होती है।
श्रीयुत 'कमलेश' सूक्ष्म के इस विद्रोह का विश्लेषण करते हुये कहते
—
छायावाद प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उत्पन्न हिन्दी-साहित्य की वह
है जो राजनैतिक निराशा ही नहीं सामाजिक विधि-निषेध और
यक जड़ता के परिणामस्वरूप प्रकाश में आई" प्रवृत्ति के प्रकाश में
के कारण उपस्थित करते हुये कहते हैं—"अंग्रेजों का विश्वासघात,
उमा की नैतिकता और द्विवेदी काल की इतिवृत्तात्मकता ने कलाकार
य की अवरुद्ध गति को विद्रोह करने के लिए बाध्य किया।
श्री हरिहरनिवासजी श्री प्रेमीजी के मत का खण्डन करते हुये कहते
इ स्थिति नहीं है काव्य-शाप है—इससे तात्पर्य उस कविता धारा से

है जो द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध विद्रोह स्वरूप, नवीन में प्रतीक पद्धति तथा चित्रमाषा की शैली में प्रवाहित की गई है... यथार्थ से पलायन प्रकृति के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण, मानव... भिव्यञ्जन, नीति-विद्रोह, दुःखवाद तथा रहस्यवाद की ओर... दिखलाई गई।"

उपरोक्त सभी परिभाषाओं पर आचार्य शुक्ल का प्रभाव... आचार्य छायावाद का अर्थ बताते हुए कहते हैं—"छायावाद का... अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का कथन।" इसकी.. विशेषताएँ कहीं—

१—पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लिए भी... का अनुकरण।

२—धार्मिक क्षेत्र से साहित्यिक क्षेत्र में प्रकट हुआ।

३—रहस्यवाद इसके अन्तर्गत है।

४—अभिव्यञ्जन पद्धति ही लक्ष्य बनी।

५—चित्रमयी भाषा में प्रतीक शैली।

६—कल्पित अनुभूति का प्राचुर्य।

श्री 'कमलेश' ने छायावाद की विशेषता बताते हुए लिखा—

१—इसमें व्यक्तिवाद का प्राबल्य है।

२—स्वानुभूति परक वेदना निराशा और विषाद के स्वर हैं

३—व्यक्तिगत वेदना काव्य में साकार बन गई :—

इन समस्त परिभाषाओं पर विचार करने से मालूम हुआ... साहित्य के (Romanticism) के समान यह... और द्विवेदीकाल की प्रतिक्रिया स्वरूप बनी। (Roman... धारा के तीन प्रमुख कवियों का इस धारा पर प्रभाव... प्रकृति में चेतना का दृष्टिकोण, कीट्स की वासनात्मक सौ... शैली की 'गगन विहारी प्रवृत्ति' अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन... काव्यधारा में आई।

ति के प्रति रहस्य की भावना, कल्पनात्मक अनुभूति, शुष्कता और
त रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, गीतप्रधान, वासनायुक्त उच्च कल्पना-
व्यक्तिगत, प्रकृति के प्रति उत्कट प्रेम, कलात्मकता आदि जो
nantic) काव्यधारा की विशेषताएँ हैं वही छायावाद में
ईं।

ी (Romantic) काव्यधारा का अध्ययन किये हुए, रवीन्द्र
ञ्जलि से प्रभावित, अस्फुट, अस्पष्ट झङ्कार जाग्रत करते हुए, नवीन
जना, उच्च कल्पना विधान एवम् कोमल कान्त पदावली से ध्वन्या-
र साथे कविवर पन्त कुछ झिझक के साथ हिन्दी-साहित्य में उतरे।
की गोद में पले। उसका मधुमय आँगन ही काव्य का माध्यम बना।
रङ्गों में मिल कर उछल-उछल कर तिल-तिल कर अपना क्रीड़ा
किया है। प्रकृति की दिव्य झाँकी में कवि की आत्मा एकाकार
है।

क ओर जगत है और उसका भौतिक सौन्दर्य दूसरी ओर प्रकृति की
झाँकी। कवि अपना लक्ष्य स्पष्ट करता हुआ कहता है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले! तेरे केश जाल में कैसे उलझादूँ लोचन

ंस्कृत साहित्य में प्रकृति के प्रति जो विशाल दृष्टिकोण था—जिसमें
का उद्दीपन ही नहीं आलम्बन रूप में भी चित्रण हुआ है—हिन्दी
में ग्रहीत नहीं हुआ। वीरगाथा काल से छायावाद तक प्रकृति
रूप में थी। नायक-नायिका के रूप-वर्णन में उपमान बन कर
र रूप में उपस्थित हुई है। प्रकृति में भी चेतना है—वह भी संवे-
ल है—आलम्बन रूप में भी इसका स्वतन्त्र संश्लिष्ट वर्णन हो सकता
यह धारणा पन्त की है। अद्वैत की जड़ और शुद्धाद्वैत की आनन्द
तिरोहित प्रकृति पन्त की काव्यधारा में समुचित आनन्द स्वरूप हो गई।

प्रकृति के इस रहस्य की झाँकी पन्त ने उपस्थित करते हुए कहा है—

मिल मुझे यह दिव्य अन्तरान्तर
गूढ़ तम अनुरक्ती ना सुरवर
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर।

मानवीय सम्बन्धों के विविध रूप में कवि ने प्रकृति का दर्शन किया है—एक मग्न हुआ है—इसी रस मग्नावस्था में कल्पनाओं के रूप में जो वाणी प्रस्फुट हुई है उसमें छायावाद की समस्त मधुरिमा और विशेषताएँ अपने आप स्वाभाविक रूप से आगई हैं। *कृत्रिमता नहीं है—लगन है—* Sincerity है।

अपने हृदय की समस्त कोमलता और आत्मा का माधुर्य छलकाते हुए कवि प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र रङ्गीन और चित्रमयी भाषा में उतारते हुए कहते हैं—

आज रंगिन मधुमासः
व्योम के विजन कुञ्ज में प्राण
खुल रही नवल गुलाब समान
लाज के विनत वृन्त पर ज्यों अभिराम
तुम्हारा मुख अरविन्द सकाम

मायावादियों की जड़ प्रकृति सौन्दर्यानुभूति की तीव्रता में चेतन हो गई। कवि आनन्दमग्न हो कर गाने लगता है :—

लो जग की डाली डाली पर
जागी नव जीवन की कलियाँ

गाते-गाते उसके समक्ष :—

आज शिशु के कवि को अनजान
खोल कलियों ने उर के द्वार
दे दिया उसको छवि का वेश

मञ्जु भौंरों ने मधु का तार
कह दिये भेद भरे सन्देश

मेद भरे सन्देश की अनुभूति वर्डसवर्थ को भी हुई थी। प्रकृति
आध्यात्मिक सन्देश कहती थी। उसने भी इस अनुभूति को इस
ट किया था—

One impulse from a vernal oe.
May teach you more cf man
Of moral evil and of good
Than all the sages can.

नी प्रकार प्रतिभा से कवि नारी का सृजन करता है। इस स्नेहमयी
मयी नारी रूप से अखिल सृष्टि जीवन पाती है जो सकल ऐश्वर्यों
न और इच्छाओं का अवसान है। इसी से प्रकृति अपना रूप
है— कार्य व्यापार चलाती है—लीला करती है—

ृति के प्रति कवि ने अलग-अलग दृष्टिकोण उपस्थित किए हैं। कभी
ममतामयी मा का रूप धारण करती है जिसके समक्ष कवि अपना
भोलापन और वात्सल्य रख देता है। कहीं कवि "स्वीकारो पत्र
द्वारा श्रद्धा की भेंट चढ़ाता है तो कहीं जग के निर्मल दर्पण में
लो माँ का प्रतिबिम्ब देखने को अधीर होता है। माँ-ममतामयी है—
छिपाव क्यों—वह धीरे-धीरे अपना दिव्य द्वार खोल रही है। कवि
 सन्देश का रहस्य जानने लग जाता है। सहचरी के रूप में प्राण
ा के रूप में और रहस्य के रूप में कवि ने प्रकृति को देखा है।
विध रूपों का दर्शन 'वीणा' से 'गुञ्जन' तक हुआ है।

ाधुनिक कवियों में भावात्मक या साधनात्मक रहस्यवाद देखना
ा होगी, यहाँ रहस्यवाद साधना बन कर नहीं आया है। यहाँ तो वह
ीतों के रूप में सूक्ष्म अनुभूति की सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यञ्जना के लिए,
द और अभिव्यञ्जनावाद से प्रभावित केवल आध्यात्मिक उड़ान के

निर् आता है। इसी से आचार्य शुक्ल आधुनिक रहस्यवाद
के अन्तर्गत मानते हैं। महादेवी वर्मा ने भी स्वीकार किया है
के अन्तर्गत न आने कितने वाद हैं''। प्रकृति के प्रति चेतन दृष्टि
रखता कवि प्रकृति के कार्य व्यापार एवं उपकरणों में दिव्य सत्ता का
स्वाभाविक ही अनुभव करता है, अतः प्रसार के प्रति विस्मय और उ
भावना उसके व्यापारों में जिज्ञासा की भावना अपने आप जागती है
को देखकर कवि कहता है :—

> कौन ! कौन ! तुम परिहित वसना,
> किसके चरणों की दासी।

जिज्ञासा रहस्यवाद की प्रथम अवस्था है—अनन्त
व्यापार पर आश्चर्य प्रकट करते हुए महादेवी वर्मा कहती हैं :—

> कनक से दिन मोती सी रात,
> सुनहली साँझ गुलाबी प्रातः।
> मिटाता रँगता बारम्बार,
> कौन ! जग का वह चित्राधार॥

जिज्ञासा जोर पकड़ती है—जानने का प्रयत्न होता है वह क।
स्वर्णिम प्रभात में लताद्रुम और दूर्वा पर चमकते हुए
देख कर रामकुमार वर्मा आश्चर्य से पूछते हैं :—

> ओसों का हँसता बाल रूप यह किसका है छविमय
> विहङ्गों के कण्ठों में समोद, यह कौन मर रहा है ?

श्री प्रसादजी भी प्रकृति के कार्य व्यापारों की [illegible]
[illegible]ा करते हैं :—

> विश्व देव सविता या पूषा
> सोम मरुत चञ्चल पव मान
> वरुण आदि सब घूम रहे हैं
> किसके शासन में अम्लान

त भी उत्कंठित होकर कहते हैं—

ई चिर उत्कंठातुर, जगत के अखिल चराचर
ों मौन मुग्ध किसके बल !

कवि रहस्य जानने का प्रयत्न करता है परन्तु निराश—

और हाय ! मैं रोती फिरती,
रहती हूँ निशदिन बन बन।
नहीं सुनाई देती फिर भी,
वह वंशी ध्वनि मन मोहन॥

र उस परम सत्ता के प्रति महत्व की भावना और अपने लघुत्व
ा है। हृदय में श्रद्धा समन्वित विश्वास लिये कवि कहता है—

इस अशेष की अन्धकार मय
करुण कुटी पर करुणा कर।
अये रन्ध्र मग-गामी ! स्वागत,
आओ मुसका उज्वल तर॥

ठ कण-कण में सूक्तियों की तरह पन्त उस छवि का इशार

ने नक्षत्रों से मौन, निमन्त्रण देता मुझको कौन।
ने सौरभ के मिस मौन, सन्देशा मुझे भेजता कौन॥

र लहर, विहङ्ग कुल की कल कण्ठ हिलोर, झींगुर की
ोतों की चमक, मधुर बाल के गुञ्जार, कवियों के उद्‌गार
अशेष कण के मिस न जाने कौन द्युतिमान का सन्देश देते है।

रे उषा के स्वर्णिम आलोक में, निर्झरणी के विविध विहङ्गम
व ध्वनि में, प्रकृति के कण-कण में उस द्युतिमान की झलक
ो उस झलक मे प्रेम करने लगता है। वह बहुत कुछ रहस्य
। अब उसमें विस्मय की भावना नहीं रहती है, भावना में

मादकता और उन्माद आजाता है। आत्म-स
प्रार्थना करता है—

ऐ असीम सौन्दर्य रा
हृत्कम्पन से
विश्व कामिनी की पाव
मुझे दिखाओ करुणा

करुणावान के दर्शन की अभिलाषा लिये
में प्रियतम की मुस्कान देखता है, परन्तु निरा
है। छायावाद में वेदना का प्रमुख स्थान है
प्रेम की पीर का है। ग्रन्थि और उच्छ्वास में
प्रेम की चट्टान से टकराता है और विप्रलम्भ
छायावादी कवियों में व्यक्तिगत अभाव के कारण
वेदना का स्वर तीव्र है—

आज वेदने आ, मुझ
गा गाकर बीन
हृदय खोल के रो रो

हृदय की व्यथा जब तक प्रकट नहीं होती
रहती है। सभी ही चाहते हैं पर पन्त—

दग्ध हृदय की विरह व्यथा को हरने
किस प्रकार ?

करुण क्रन्दन करने दो, अविरल स्नेह
मुझको मति मत धोने दो।

अन्त में कवि इस निश्चय पर पहुँचता कहा

जो न अश्रु अञ्जलि दे

व—

आँखों के अविरल जल को मत रोको मत रोको।

अन्त में कवि-जीवन में रूप-सुधा बरसी और ऐसे क्षण आए जिससे न-निधि प्राप्त हुई। परम सत्ता से एकात्म की अनुभूति हुई। इसी म्य की भावना व्यञ्जित करते हुए कवि कह उठता है :—

एक हूँ मैं तुमसे सब भाँति,
जलद हूँ मैं यदि तुम हो स्वाँति।

रहस्यवाद की साधना में जो अवस्थाएँ हुआ करती हैं वे पन्त के रहस्य-में स्पष्ट नहीं हुई क्योंकि ये कलाकार प्रथम हैं, रहस्यवादी बाद में। ावाद में रहस्यवाद आध्यात्मिक उड़ान बन कर आया है—साधना बन नहीं।

वीणा से गुञ्जन तक छायावाद का प्राचुर्य है यद्यपि बीच बीच में तिवादी तथा दार्शनिक भावनाएँ भी आगई हैं परन्तु बहुलता छायावाद विशेषताओं की है। अपनी कोमल कान्त पदावली में, रङ्ग बिरङ्गी ़का से, भव्य-कल्पना विधान द्वारा छायावाद का स्वरूप उपस्थित किया । इसमें छायावाद के दोष भी अपने आप आगये हैं। अतएव छायावाद दोषों पर भी दृष्टि डालना उपयुक्त है।

१—जिस रीतिकाल की घोर शृङ्गारिकता के विरुद्ध छायावाद का विर्भाव हुआ धीरे धीरे वह भी उसमें रम गया। वासना का प्राबल्य हुआ र कवि संयोग शृङ्गार के नग्न चित्र उपस्थित करने से नहीं चूका।

२—कल्पना का प्राधान्य होने से भावना भी कल्पित होने लगी—जो न भावों को स्पर्श न कर सकी अतएव कृत्रिमता और कारीगरी आने लगी।

३—रूढ़ियों के विरुद्ध छायावाद का चलन हुआ जिससे उपमान बदले, न्द बदले, भाषा बदली, लक्षणा और व्यञ्जना का प्रयोग कर काव्य को न्यात्मक बनाया वहाँ वही रूढ़ि में फँस गया। गिने गिनाए शब्द

के लिये रूढ़ हो गये, उन्हीं शब्दों की क्रीड़ा से छायावाद बनने लगा—जिसमें मीनाकारी थी। भावना मूल भावों से कोसों दूर रही।

४—अस्पष्टता अपनी स्वाभाविक ही हुई। वह अलंकृत सजीव बन गया।

५—जगत और जीवन में सामञ्जस्य उपस्थित कर सकने के कारण छायावाद आधुनिक "सामाजिकता को अपने साथ न रख सका। नया प्रकाश, नये विचार, नई भावना का समावेश न कर सका"। —पन्त

गत्यात्मक व्यक्तित्व रखने वाले कवि पन्त छायावाद से चिपके नहीं रहे। छायावाद का भाषा माधुर्य, प्रतीक पद्धति, मानवीकरण एवन् कलात्मक सौन्दर्य लिये 'परिवर्तन' में कवि ने दिशा परिवर्तन की सूचना दी—जगत की ओर झुका—यथार्थ की ओर मुड़ा''''जीवन और जगत की विभीषिका नग्न रूप में कवि के सम्मुख उपस्थित हुई और उसके किशोरावस्था का स्वप्न भङ्ग हुआ। उसने अपना लक्ष्य बदला।

उद्धव शतक' का वैशिष्ट्य तथा आधुनिक शिक्षा-संस्कार

गोपी-उद्धव प्रसङ्ग को लेकर समय-समय पर अनेक कवियों ने रचनाएँ
हैं। यह विषय इतना लोक-प्रिय रहा है कि भक्तवर तुलसीदास जैसे
के अनन्य उपासक भी अपनी लेखनी इस पर चलाये बिना न रह
। इस विषय का आधार श्रीमद्भागवत् तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण हैं, परन्तु
प्रसङ्ग लेकर कविगण कल्पना से नये नये रङ्ग भर कर उन्हें परिवर्तित
रहे हैं।

भागवत में भी उद्धव-गोपी संवाद मिलता है, परन्तु उसमें उद्धव ब्रज
के सन्देशवाहक के रूप में उनके आगमन की सूचना लेकर जाते हैं।
वैवर्त पुराण में कृष्ण के स्वप्न द्वारा गोपियों को दर्शन देने का उल्लेख है।
ास ने सर्वप्रथम इस प्रसङ्ग को लेकर लिखा था, परन्तु कुछ तो परिस्थिति
अनुरोध से तथा कुछ अपनी भक्ति के कारण उसमें परिवर्तन किया।

यह वह समय था जब ज्ञानियों के उपदेशों से जनता कर्म तथा धर्म
भूलकर उनके गुप्त तथा रहस्यमय निर्गुण के चक्कर में फँस रही थी।
दशा तथा परिस्थिति में जनता को सच्चे भक्तों तथा ज्ञान की व्यवहार-
कता को प्रकट करने वाली महान आत्माओं की आवश्यकता थी। ज्ञान
खोखला दिखाने के लिए कृष्ण भक्त कवियों को अच्छा अवसर मिला।
ोंने गोपी-उद्धव संवाद द्वारा निर्गुण का खण्डन कर सगुण की महत्ता

ाकर तथा सूर की गोपिकाओं में बहुत अन्तर है। अब तक की इस प्रसङ्ग पर भावात्मक हुई हैं। सूर की गोपियाँ कृष्ण की अनन्य था उपासिका दिखाई गई हैं, वे सगुण उपासना का सन्देश देती हैं, र का काव्य भावात्मक न रहकर दार्शनिक तर्कों, व्यंग्य तथा उक्ति- से परिपूर्ण है। इनकी गोपिकाएँ कोरी भावुक न रहकर तर्क बुद्धि वे कहती हैं कि "तुम रङ्ग-रूप रहित निर्गुण ब्रह्म की उपासना ो शिक्षा देते हो, परन्तु हमें तो कृष्ण के बिना सब रङ्ग-रूप रहित देता है फिर कैसे एक और रूप का ध्यान रख कर क्या करेंगी।" सुन्दर तर्क है—

'रंग रूप रहित लखात सब ही है हमें
वैसो एक और ध्याई धीर धरि है कहा'

दूसरे स्थान पर उद्धव योग की साधना की शिक्षा देते हैं उस समय कहती हैं :—

'वियोग आगि जारन को,
हृय बयारि भखिबो कहो।'

कितना सुन्दर तर्क है—कि वे वियोग की अग्नि को बुझाने के लिए ग्राम का उपदेश देते हैं उससे तो उनके हृदय की अग्नि और प्रज्वलित । इस प्रकार के तर्कों से उद्धव निरुत्तर हो जाते हैं तथा वह गोपिकाओं ष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का अनुभव करके अपने ज्ञान का गुमान भूलने हैं।

लगभग सब ही कवियों ने गोपियों के विरह तथा प्रेम का वर्णन किया रन्तु रत्नाकर को एकाङ्गी प्रेम का आदर्श मान्य नहीं था। अब तक के क्षेत्र में तुल्यानुराग का आदर्श मान्य रहा है परन्तु वही भक्ति के में आकर एकाङ्गी हो जाता है। भक्त तो अपने आराध्य के लिए हता मरता रहता दिखाया जाता है परन्तु स्वामी उदासीन रहता है। ी चातक के प्रेम को आदर्श मानते हैं। यह २० वीं सदी का प्रभाव

या कि रत्नाकर को एकाङ्गी प्रेम मान्य न होकर तुल्यानुराग · आज का युग एकाङ्गी प्रेम में विश्वास नहीं करता। अपना तन-मन-धन अपने प्रिय के लिए न्यौछावर कर चुकी हैं भी उनके विरह में व्याकुल और अधीर हैं। 'उद्धव-शतक' कृष्ण की विरह दशा से परिपूर्ण है। कृष्ण जमुना में स्नान करने वहाँ उन्हें एक बहता हुआ कमल दृष्टिगोचर होता है, उसे देख · पद्मिनी राधा का स्मरण हो आता है; वे घूँघट ही मूर्छित हो जाते हैं परे उसारि अमाय मुख छायो है' कृष्ण की ऐसी दशा का वर्णन . अन्य कवि ने किया है ! स्थान-स्थान पर कृष्ण का गला भर आना अश्रुपात होना उनकी प्रेम की विह्वलता के परिचायक हैं।

"नैकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं।
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं॥"

अश्रु यहाँ कृष्ण के हृदय की उथल-पुथल का चित्र हमारे . प्रस्तुत कर देते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि की निरीक्षण शक्ति का भी आभास . पर मिलता है। एक स्थान पर आधुनिक वैज्ञानिक वाष्पीकरण की को कवि ने सुन्दरता से दिखाया है।

"प्राकृत प्रभाव सौं पलट मन मानो पाई।
पानी आज सकल सँवारयो काज बानी है॥"

इन पंक्तियों में उस वैज्ञानिक प्रक्रिया का वर्णन है जिसके द्वारा जल को वाष्प बनाया जाता है तथा फिर जल के रूप में परिणत कर दिया जाता है। कवि कहता है कि हृदय विरह के कारण वाष्प होकर उड़ गया था अब फिर नेत्र से आँसू गिर रहे हैं यह मानो वाष्प ने जल का रूप धारण कर लिया है।

रत्नाकरजी का 'उद्धव शतक' मुक्तक रचना होते हुये कथा को कुछ दूर तक लेकर चलता है जिससे ग्रन्थ अधिक आकर्षक हो गया।

भाषा तथा छन्द की दृष्टि से भी इनमें मौलिकता है। इन्होंने भाषा
ी ब्रज को लेकर अपनी प्रतिभा से उसे बड़े ही परिष्कृत रूप में हमारे
ने रक्खा है। कहा जाता है "सूर ने जिस ब्रजभाषा को काव्य में
े रूप में प्रयोग किया था उसे घनानन्द ने व्यवस्थित रूप दिया तथा
र रत्नाकर ने उसे परिमार्जित कर भाषा का प्रतिमान बनाया।" छन्द
ृस रचना के अर्थगर्भित तथा भावपूर्ण हैं। अधिकतर ब्रजभाषा कवियों
न्तिम दो चरणों को ही चमत्कारपूर्ण बनाने का प्रयास किया है परन्तु
ृव शतक' में चारों चरण समान रूप से सुन्दर तथा अर्थगर्भित हैं।

इन विशेषताओं को देखते हुए हम रत्नाकरजी की मौलिकता, मार्मिकता
उक्तिवैचित्र्य की सराहना किये बिना नहीं रह सकते हैं। सबसे प्रशंस-
' यह है कि उन्होंने विषय पुरातन लेकर उसका पिष्टपेषण मात्र नहीं
ा है। उसमें अपनी प्रतिभा तथा कल्पना से ऐसा रंग भरा है कि उसका
त्व तो चमक ही उठा साथ ही आपकी रचना हिन्दी साहित्य-भण्डार
अद्वितीय तथा अनमोल निधि बन गई है।

स्रोत में जो भक्तों के मानस में आदि से प्रवाहित था गीति के माध्य
।।

वान् के सगुण रूप के सोलहों कला के 'स्वयंरूप' कृष्ण की लीलाओं
रम चित्राधार भगवान् वेदव्यास रचित श्रीमद्भागवत है। यह
महापुराण मध्ययुगीन वैष्णव सन्तों का प्रधान सर्वस्व रहा है।
, वेदान्त और ज्ञान की त्रिवेणी भागवत-तीर्थ में बहती है। भा
। भक्तियुग में समस्त भारतीय भावधारा पर गहरा प्रभाव है। सू
गीतिकाव्य—सूरसागर—तो इसी भागवत का रस-पुत्र है।

र की दार्शनिक दृष्टि—भागवत के अनुसार श्रीकृष्णचन्द्र भग
यंरूप' हैं जो भक्तों पर अनुग्रह कार्य के लिय पृथ्वी पर आते
[अगुण भी हैं सगुण भी—निराकार भी, साकार भी। श्री
सगुण 'स्वयं रूप' हैं, उसमें भगवान के माधुर्य आदि गुणों का
। योगियों के 'परमात्मा' दार्शनिकों के 'ब्रह्म' ज्ञान योगियों के
उनसे श्रेष्ठ श्रीकृष्ण हैं क्योंकि भगवान का यह सगुण रूप ऐसा
थ्वी के अणु-परमाणु और आकाश के तुषारकण तथा सूर्य की
ही गिनी जा सकें, परन्तु सगुण रूप के गुणों की गणना कौन
है।

> गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातु
> हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
> कालेन यैर्वा विमिताः
> सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः। (भाग

बल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार यह भगवान् लीला विस्तार करने के
तार धारण करते हैं। परब्रह्म कृष्ण ही संसार का पालन और
 हैं। उन्हीं से जीव और प्रकृति की उत्पत्ति हुई है। श्रीकृष्ण
नते) के साथ ब्रह्म-लोक में निवास करते हैं। भक्त आत्माएँ उनके
ती हैं। भक्तों को लीला का आनन्द देने के लिए ही वे पृथ्वी पर अ

भी है। गोलोक पूर्ण रूप से ब्रज में ...
गान्त और नन्द यशोदा बन जाते हैं और
का आनन्द उठाते हैं। इसी को सूर यों कहते

भगनायक जगदीश
जनत् जननि जन
नित विहार गोपाल बाल
वृन्दावन

भगवान की इस लीला में (१) देवस्वं
(३) वेणु-माधुरी और (४) रूप माधुरी का समावेश
भगवान का 'ईश्वर' रूप प्रधान है, क्रीड़ा-माधुरी में
—वेणु लीला में वेणुवादन है और रूप माधुरी का
ग्र भक्तों के काव्य में तरङ्गित हो रहा है।

इन भक्तों का भगवान प्रेम का अपार पारावार है।
र आता है। "श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है जो सब
'पुरुषोत्तम' कहलाता है। पुरुषोत्तम कृष्ण की
(की इस सत्य लीला सृष्टि में प्रवेश करना ही
। लेकिन इसकी ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है
होता है, जिसे पोषण 'पुष्टि' कहते हैं। यही
ग' है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—भक्ति
सूर की भक्ति सख्य भाव की थी। सूरदास के लिए
के वश हो लीलाएँ करते हैं—

प्रीति के वश में हैं मुरारी।
प्रीति के वश नटवर वेश धरयो,
प्रीति वश करन गिरिराज धारी।

और प्रेम ही प्रेममय प्रभु को पाने का साधन है।

प्रेम-प्रेम सौं होय प्रेम सौं पारहि जैये।
प्रेम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये॥

गोकुल में आनन्द मङ्गल मनाया जा रहा है। एक चित्र दिखाकर हम आगे चलते हैं—

आजु हो निसान बाजे, नन्द
आनन्द-मगन नर गोकुल
दूब दधि-रोचन कनक थार लै
मानों इन्द्र वधू जुरी प
आनँद मगन धेनु स्रवैं थनु
उमँग्यो यमुनजल उछलि
आनन्दित विप्र, सूत मागध, याचक
उमंगि असीस देत सब हित

ऐसे अनेक गीतों में सूर ने उन उत्सवों लोरियाँ—गीतियाँ दे दी हैं जब कि कान्ह की इस होंगी। ऐसे अवसरों पर सूर के पद गाये जाते यशोदा—नहीं, मानो स्वयं सूर ही हरि को पालने में

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराइ, मल्हावै जोइ सोइ कछु
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया,
काहे न आनि सुवावै।

इन्हीं दिनों पूतना दुग्धदायिनी माँ बन कर आती है, पान के साथ जीवन की पीड़ा भी पी लेते हैं और—

(सूरदास) बलि जाइ जसोदा,
गोविन प्रान पूतना पेऊ।

अपने शैशव में कृष्ण कागासुर, शकटासुर,—तृणावर्त हम भूल जाते हैं कि सूर के कृष्ण अब भी 'सर्वज्ञ' हैं,

चरन गहे अँगुठा मुख मेलत।

× × ×

उछरत सिंधु, धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ।
सेष-सहसफन डोलन लागे हरि पीवत जब पाइ।
बढ़यौ वृक्ष बट सुर अकुलाने, गगन भयौ उतपात।
महा प्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात॥

और किसी ने न देखा हो, पर सूर की अन्धी पुतलियों ने यह विराट अवश्य ही देखा था! या देखा माता यशोदा ने—

देखि सयन-गति त्रिभुवन कँपै, ईस बिरंचि भ्रमावै।

शेषशायी विष्णु जो हैं—

कर सिर-तर करि स्याम मनोहर,
अलक अधिक सोभावै।
सूरदास मानौं पन्नगपति,
प्रभु ऊपर फन छावै॥

एक ओर तो कृष्ण का सूर की आँखों से हमें दीखने वाला यह विराट और दूसरी ओर पार्थिव मृन्मय मानव के शिशु की भाँति होने वाली जीवन-लीलाएँ। यह अनन्य समन्वय सूर ही कर सकते थे। उस [illegible]क त्रिभुवन पति, और जगदीश ब्रह्म को जीवन के प्रभात में ही सूर [illegible]पाया है फिर तो मानों इस ब्रह्म को ब्रज की धूल ने इतना पार्थिव कर [illegible]है कि कृष्ण मानवीय शिशु ही बन गये हैं। सूर बाल-मानस के मर्मी [illegible]ल-मनोवृत्तियों, मनोदशाओं और चेष्टाओं का इतना स्वाभाविक और [illegible]कन सूर ने किया है कि उनकी प्रतिभा पर मुग्ध-गद्गद् हो जाना है, विस्मित रह जाना पड़ता है और प्रश्न करना पड़ता है कि जिस [illegible]ध (समझे जाने वाले) सूर ने इतना यथार्थ बाल-प्रकृति और बाल [illegible]का अध्ययन निरीक्षण और चित्रण किया है, उस सूर को अन्धा [illegible]कहे!

[illegible]र ने माता के ममतामय और वात्सल्य-विभोर हृदय के अन्तरङ्ग को [illegible]स रूप में दिखाया है, यह भी अप्रतिम है। अपने प्राणधन से शिशु

दमकति दूध दँतुलिया विहसतु
मनु सीपज घर कियो बारिज पर।

चानक कृष्ण ने—

मुख में तीन लोक दिखराये,
चकित भई नन्द रनियाँ।

एक दिन यशोदा की निम्नलिखित अभिलाषा पूरी हुई—

त कर नवनीत लिये।
नि चलत रेनु-तन मंडित, मुख दधि लेप किये।

यशोदा के आँगन में ही नील जलद खिलने लगे, कृष्ण के पाँवों
ों का कलरव गूँजने लगा, मुख पर गुरु शनि और चन्द्रमा का
ने लगा, नील कमल पर तारे खिले और उन्हें बिजली ने आकर
या !

आँगन खेलत घुटुरुनि धाये।
नील जलद अभिराम स्याम तन,
निरखि जननि दोउ निकट बुलाये।
× × ×
नूपुर कलरव मनु हंसनि सुत,
रचे नीड़ दै बाँह बसाये।
भाल विसाल ललित लटकन मनि
बाल दसा के चिकुर सुहाये।
मान गुरु-सान कुज आग कार
सखिहं मिलन तम के गन आये।
उपमा एक अभूत भई तब,
जब जननी पट पीत उढ़ाये।
नील जलद पर उडुगन निरखत,
तजि सुभाव मनु तड़ित छुपाये।

घुटुरुनि चलते हुए कान्ह की यह बाल-छवि अत्यन्त मनोरम है।

सुधासिंधु तें निकसि नयौ ससि,
राजत मनु मृग अङ्क।
सोभित सुमन मयूर चन्द्रिका,
नील नलिन तनु स्याम।
मनहुँ नक्षत्र समेत इन्द्र धनु,
सुभग मेघ अभिराम।

और कृष्ण की वह बाल-सुलभ मुखरता, चञ्चलता और नटखटी जो ...की आँखों में बसा हुआ दृश्य है, सूर के अन्धे तारों में भी बसा था। ...आँगन में खड़ी-खड़ी रोते हुए हरि को चन्दा दिखा कर बहलाना ...है—देख वह रहा चन्दा मामा, रो मत मेरे कान्ह :—

रोवत कत बलि जाउँ तिहारी,
देखौं धौं भरि नयन जुड़ावत।

और शिशु कृष्ण

चितै रहे तब आपुन शशितन
अपने कर लै लै जु बतावत।
मीठो लगत किधौ यह खारो!
देखत अति सुन्दर मन भावत।

...कलात्मक संकेत द्वारा कृती कवि सूर ने चन्द्रमा में रोटी और माखन ...बाल-सुलभ कल्पना भर दी है। पर यशोदा क्या जानती थी कि उल्टी ...गले आ पड़ेगी—

लागी भूख चन्द मैं खैहौं
देहु देहु रिस करि विरुझावत।

और तब यशोदा सूर के श्याम को गगन में उड़ती चिरैया दिखाकर ...ने कैसे बहला पाती है :—

सूर श्याम को जसुदा बोधति,
गगन चिरैया उड़ति लखावत।

सुधासिंधु तैं निकसि नयौ ससि,
राजत मनु मृग अङ्क।
सोभित सुमन मयूर चन्द्रिका,
नील नलिन तनु स्याम।
मनहुँ नक्षत्र समेत इन्द्र धनु,
सुभग मेघ अभिराम।

और कृष्ण की वह बाल-सुलभ मुस्करता, चञ्चलता और नटखटी जो ...र की आँखों में बसा हुआ दृश्य है, सूर के अन्धे तारों में भी बसा था। ...ा आँगन में खड़ी-खड़ी रोते हुए हरि को चन्दा दिखा कर बहलाना ...ी है—देख वह रहा चन्दा मामा, रो मत मेरे कान्ह :—

रोवत कत बलि जाउँ तिहारी,
देखौं धौं भरि नयन जुड़ावत।

और शिशु कृष्ण

चितै रहे तब आपुन शशितन
अपने कर लै लै जु बतावत।
मीठो लगत किधौं यह खारो!
देखत अति सुन्दर मन भावत।

...कलात्मक संकेत द्वारा कृती कवि सूर ने चन्द्रमा में रोटी और माखन ...बाल-सुलभ कल्पना भर दी है। पर यशोदा क्या जानती थी कि उस्टी ...ा गले आ पड़ेगी—

लागी भूख चन्द मैं खैहौं
देहु देहु रिस करि विरुझावत।

और तब यशोदा सूर के श्याम को गगन में उड़ती चिरैया दिखाकर ...ने न कैसे बहला पाती है :—

सूर श्याम को जसुदा बोधति,
गगन चिरैया उड़ति दिखावत।

सुधासिंधु तैं निकसि नयौ ससि,
राजत मनु मृग अङ्क।
सोभित सुमन मयूर चन्द्रिका,
नील नलिन तनु श्याम।
मनहुँ नक्षत्र समेत इन्द्र धनु,
सुभग मेघ अभिराम।

और कृष्ण की वह बाल-सुलभ मुखरता, चञ्चलता और नटखटी जो की आँखों में बसा हुआ दृश्य है, सूर के अन्धे तारों में भी बसा था। आँगन में खड़ी-खड़ी रोते हुए हरि को चन्दा दिखा कर बहलाना है—देख वह रहा चन्दा मामा, रो मत मेरे कान्ह :—

रोवत कत बलि जाउँ तिहारी,
देखौं धौं भरि नयन जुड़ावत।

और शिशु कृष्ण

चितै रहे तब आपुन शशितन
अपने कर लै लै जु बतावत।
मीठो लगत किधौं यह खारो?
देखत अति सुन्दर मन भावत।

कलात्मक संकेत द्वारा कृती कवि सूर ने चन्द्रमा में रोटी और माखन बाल-सुलभ कल्पना भर दी है। पर यशोदा क्या जानती थी कि उल्टी गले आ पड़ेगी—

लागी भूख चन्द मैं खैहौं
देहु देहु रिस करि विरुझावत।

और तब यशोदा सूर के श्याम को गगन में उड़ती चिरैया दिखाकर न कैसे बहला पाती है :—

सूर श्याम को जसुदा बोधति,
गगन चिरैया उड़ति लखावत।

माखन के प्रेमी मोहन की माखनचोरी
मांस है। कृष्ण की बाल-लीला ही यह प्रग्राम
गायों की मथुरा नहीं भली उनका माखन सब
आनन्दकन्द और लीलामय की लीला है :—

कबहुँक भ्रमर हरि नहिं माखन
कबहुँक दधि माखन
कबहुँक भर कात माखन की
कबहुँक मेरा दिखाइ
सूरदास प्रभु की यह लीला
परति न महिमा सेष बखानी।

माखन चोर चोरी करने तो गया है, पर मथानी के प्रतिबिम्ब देख कर सोचता है—यह कौन दूसरा माखन चोर घड़े में ही कूद घुसा है! नन्दबाबा अपने छौने की इस रिस भरी पर मन-ही-मन मगन हैं। बालक कृष्ण को लिए, कण्ठ लगाये, मुँह चूमते-पुचकारते मथानी के पास (घटनास्थल पर) आते हैं और झाँकते हैं—कहाँ है देखें माखन चोर! और कृष्ण देखते हैं कि वह नट बालक तो बाबा की गोद में चढ़ा माखन खा रहा है! क्रोध और बढ़ जाता है। नन्दबाबा तो गुनाह में शरीक हैं। अपनी मैया जसुमति के पास भागे। पहले ही से भूमिका ऐसी बाँधते हैं कि कहीं भी नन्दबाबा की भाँति न बदल जाय—मैया, मैया, देख री मैया, मैं तो तेरा लाल हूँ न! नन्दबाबा ने तो आज दूसरा लाल कर लिया, मुझे कुछ भी नहीं गिना! यशोदा अपने लड़ैते लाल को अकवार में भर कर वहाँ लाई और घड़े को पकड़ कर हिला दिया। न परछाईं रही न मारही— 'न रहा बाँस न बजी बाँसुरी।' कृष्ण फूले न समाये कि अपराधी भाग गया, पर उनसे भी बढ़कर सुख मिला नन्दरानी यशोदा को, या सूर को! समस्त चित्र ही बाल प्रकृति के निरीक्षक और द्रष्टा सिद्ध— कुशलता की ओर इङ्गित करता है

लिक-

माखन खात हँसत किलकत,
हरि पकरि स्वच्छ घट देख्यौ।
निज प्रतिबिम्ब निरखि रिस मानत,
जानत आन परेख्यौ।
मन मे माख करत कछु बोलत,
नन्दबाबा पै आयौ।
वा घट मैं काहू कै लरिका,
मेरो माखन खायौ।
महर कण्ठ लावत मुख पोंछत,
चूमत तिहिँठौं आयौ।
हिरदै दिये लख्यौ वर सुत कौं,
तातैं अधिक रिसायौ।
कह्यौ जाइ जसुमति सौं ततछन,
मैं जननी सुत तेरो।
आजु नन्द सुत और कियौ,
कछु कियौ न आदर मेरो।
जसुमति बाल विनोद जानि जिय,
उहीं ठौर लै आई।
दोउ कर पकरि डुलावन लागी,
घट मैं नहिं छवि पाई।
कुंवर हस्यौ आनन्द-प्रेम वश,
सुख पायौ नन्दरानी।
सूरज प्रभु की अद्भुत लीला,
जिन जानी, तिन जानी।

छिपे और प्रकट कितना दूध-दधि, माखन-मिश्री, खाया-पिया, माँ, पर यह बात (भविष्य वाणी) तो अभी सच नहीं हुई कि मेरी चोटी बढ़ जायगी—बल की बेनी जितनी हो जायगी। बड़ी झूठी है तू :—

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी !
किती बार मोहि दूध पियत भइ,
यह अजहूँ है
तू जो कहति बलि की बेनी ज्यौं,
ह्वै है लाँबी—मोटी
काढ़त—गुहत—न्हवावत जैहै,
नागनी-सी भुइँ लोटी !

माखन-रोटी, कभी खिलाती-पिलाती नहीं तू। कहीं लम्बी-मोटी चोटी होती होगी। 'दूध-दही, घृत-माखन-मेवा' माँ ! मुझे जल्दी बड़ा कर ले तो एक दिन कंस को पछाड़ूँ !—

मैया, मोहि बड़ो करि लै री।
दूध-दही-घृत माखन-मेवा जो माँगौं सं देरी।
× × ×
रङ्गभूमि मैं कंस पछारौं, घीसि बहाऊँ बैरी।

इसी प्रकार कभी नन्दबाबा के आँगन में, कभी धूल में, कभी जी की गोदी में, कभी माखन मिश्री से भी मधुर उनके मन में कृष्ण करते हुए स्वयं मधु-माखन-मिश्री खा-पीकर और बाल-ग्वालों का स्नेह, का दूध और यशोदा माँ के माखन ने कृष्ण को बड़ा कर दिया है।

अब बालकृष्ण बड़े हो गए हैं। उनकी चोटी बढ़ गई है—और बने 'बल की बेनी ज्यों लाँबी मोटी' भी होकर—नहाकर काढ़ने, गुहने और ओढ़ने से नागिन-सी धरती पर लौटने भी लगी हो; उनके उत्पात का क्षेत्र अब अधिक व्यापक—आँगन से पड़ोस हो गया है। मुहल्ले में और गलियों में भीर हो रही है। बलदाऊ—स्वभावतः दूसरे गौर बालकों के नेता बन कर—उन्हें चिढ़ाते हैं (क्योंकि यह गुरुमन्त्र किसी नटखट ग्वाल बाल ने ही बलदाऊ को दिया होगा)। क्या चिढ़ाते हैं यह सब कृष्ण के () करता मधुर स्वर में सुनना अच्छा लगता है—

या मोहि दाऊ बहुत खिझायो ।
सौं कहत मोल को लीनों, तोहिं जसुमति कब जायो ।

× × × ×

दे नन्द यशोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर !
क्की दे दे हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ।''

ष्ण को सब से बड़ा परिताप यही है कि यशोदा उन्हीं बेचारों को
सीखी है—(दाऊ के कान कभी गरम नहीं होते—कभी छड़ी नहीं
कभी ऊँखल से नहीं बँधते !) सुनिए, सुनिए कृष्ण कह रहे हैं :—
'तू मोहीं को मारन सीखी दाउहिं कबहूँ न खीझै'',
, यशोदा इससे अधिक और क्या कहे कि—
''सुनहु स्याम बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत ।
सूर स्याम मो गोधन की सौं हौं माता, तू पूत ।''
लड़ाई-झगड़े भी होते ही रहते हैं और सन्धि भी होती ही रहती हैं ।
से आँखमिचौनी होने लगती है और दिन बीतते जाते हैं । नटखटपन
। आता है । अचगरी से महराने से आये हुए पांडे को छकाया जाता
-यशोदा ने आवभगत करके,

''धेनु दुहाई, दूध लै आई,
पांडे रुचि करि खीर चढ़ायो ।'

× × × ×

नैन उघारि विप्र जो देखे,
खात कन्हैया भोजन पायो ।
सूर स्याम कत करत अचगरी,
बार-बार बाम्हनि खिझायो ।''

इस 'नटखटीकि' पर सूर और ग्वालिनें और माता रीझ ही
रुकतीं हैं—

कृष्ण 'माखन चोर' से 'गोपाल' बन गये हैं। कृष्ण का गोचारण
नेक मङ्गल-प्रवृत्तियों से पूर्ण हैं। प्रायः सभी महापुरुषों ने पशु-
महान कार्य किया है। चाहे वे ईसामसीह हों चाहे मुहम्मद,
। गांधी बकरी का दूध पीते हैं। और गौ उनके लिए करुणा की
। यह 'गो-रक्षक' हैं। राम और गौतम (सिद्धार्थ) तो राजकुमार

सब महापुरुषों का व्यक्तित्व लोक हितार्थ ढला है, यहीं इनका
क-सग्रही बना है। कृष्ण ने बकासुर, अघासुर, का वध कर दिया
पों के जीवन मे अपना मूल्यवान् स्थान बना लिया है। अब वेप-
ही हो गई है—अब कारी कामरिया और लकुटी लिए वह धोरी
को वृन्दावन में चराने जाता है। लौटकर आने की शोभा सूर
में सुनिए—

खि सखी वन तैं जु बने ब्रज आवत हैं नँदनन्दन।
ली सिखण्ड साथ मुख मुरली, बन्यौ तिलक उर चन्दन॥"

के लीला-लालित्य में सौन्दर्य के स्रष्टा सूर ने उनके रूप-लालित्य
व भरा है। कृष्ण के शैशव बाल्य और कैशोर के अनेक मनो-
में सूर अपनी रूप लेखनी तूलिका से चित्रित न करें तो सूर ही
ने अपने समस्त काव्य को कृष्ण के चरणों में समर्पित कर दिया
ण जीवन के अनेक रूप होते हुए भी उन्हें तो उनको बाल और
ने ही मोल लिया है। राजा कंस के और गीता के गायक कृष्ण
या मिलेगा ! उस बाल-जीवन की अनेक विध-लीला व्यापारों को
में सूर ने अपना हृदय ही खोल दिया। बाल्य और कैशोर—
वास्तविक क्षण-आयु के दिन में कितने कम हैं। इस प्रकार सूर
व, सूर का चित्राधार कितना स्वल्प और संकुचित है ! किन्तु
पर कितना विराट् चित्राङ्कन चित्रकार कर लेता है। सूर ने भी

त्र चित्र अपनी तूली से बनाए, पर वह थका नहीं और न
वाले थके। एक दृश्य को, व्यापार को, लीला को इस गायक ने
धिक बार गाया किन्तु सुनने वालों के कान तृप्त न हुए। क्यों ? इस
या है ? क्या किसी ने सोचा है ? अपने आराध्य कृष्ण की जो
सूर ने गाई हैं उनमें उसने इतने रङ्गमय छवियों, चित्रमय व्यापारों
गमय कार्यकलापों का समावेश कर दिया है कि दर्शक को एक ही
नत्य नूतन श्री और शोभा में और कुछ ही लीलाएँ नव-नवीन
र में और थोड़े से कार्यकलाप नवनवोन्मेषशालिनी गरिमा में दिखाई
हमारी पृथ्वी के ऊपर फैला हुआ आकाश वही है; वही नक्षत्र
द, सूर्य चन्द्र स्वय-प्रभात हम देखते हैं किन्तु फिर भी तृप्ति नहीं
। उषा का नित्य नूतन हास विलास, सन्ध्या का नित्य नूतन
नुरी, चञ्चल-अञ्चल, मेघखण्डों का नित्य नूतन नर्तन, ज्योत्स्ना,
और दिशाओं का नित्य नूतन पट-परिवर्तन हमारी पुतलियों
नी पुनरुक्ति की भावना नहीं आने देता, फिर हमारे हृदय का
कवि तारामण्डित आकाश में नक्षत्र खचित वितान का रूप जो
करता है, हमारे हृदय का कृती चित्रकार इन्द्रधनुष में इन्द्रप्रभा की
शालिनी अप्सरा के परिधान का रङ्ग जो भरा करता है और हमारे
का गुणी गायक श्यामा के स्वर में आह्लाद और अवसाद की रागिनियाँ
ना करता है। सूर ने अपने परिमित क्षेत्र में यही किया उसने अपने
को आलङ्कारिक रेखाओं से सुचित्रित, अपने काव्य को रस के बिन्दुओं
धुमय और अपनी गीति को भावनाओं के स्वर से लयमय बना दिया।

'कर्मभूमि' की चारित्र्य सृष्टि

प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों की भाँति 'कर्मभूमि' भी
पन्यास है। सामाजिक भूमि में चरित्र का विकास प्रेमचन्द
ी सामान्य विशेषता है। फिर प्रस्तुत उपन्यास तो समाज-सेव
ा सामाजिक कार्यकर्ताओं की कर्म-भूमि ही है। ऐसी कथा में
पकार को निरपेक्ष दृष्टि का त्याग करना पड़ता है और लेखक
दोलनों, अभिभाषणों आदि में प्रत्यक्ष रूप ग्रहण कर लेते हैं।
क के अन्तिम उपन्यास 'गोदान' की निरपेक्ष दृष्टि यहाँ अन
न' में जहाँ समाज और व्यक्ति के द्वन्द्व बनाकर व्यक्ति-
निर्देश कर व्यक्ति की सच्ची दशा का चित्रण है वहाँ उसमें सामूहिक
लनों से मुक्त होने के कारण यथार्थ चित्रण भी हो सका है। 'कर्मभूमि
सापेक्ष दृष्टि ने कतिपय आदर्शों का निर्माण किया है। इस कारण
चरित्रों की सृष्टि सिद्धान्तों की भूमि पर की गई है तथापि चरित्रों की
सत्ता अत्यन्त स्पष्ट है।

लाला समरकांत का पुत्र अमरकांत पिता से प्रत्येक बात में भिन्न
वैमातृ पुत्र होने से पिता के स्नेह को पूर्णतया न पाने के कारण उसके म
में एक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई और इसी प्रतिक्रिया के वश उसके चरित्र
विकास हुआ। यह भले के लिए ही हुआ। समरकांत को धन का मोह है
अमरकांत को उनसे सहानुभूति है जिनसे कि यह धन लूटा जाता है।
किसानों, दीनों के प्रति प्रेम प्रतिक्रिया-वश ही उत्पन्न होता है। समाज-सेवा

अधिक भाग लेता है, पैतृक सम्पत्ति की वृद्धि अथवा उसकी रक्षा की
है भी चिन्ता नहीं। आश्चर्य नहीं कि इस प्रतिकूल आचरण से पिता
र के हृदय में बहुत अन्तर स्थापित हो गया। नैना स्वपिता की
री थी पर पितृ-सेवा को ग्रहण कर उसने भाई को न त्यागा। किन्तु
अपनी सारी प्रीति का केन्द्र बना लिया। उसके सुख में ही वह
सुख मानती थी।

पाठशाला में किशोरवय अमरकान्त और सलीम की मित्रता के प्रसङ्ग
न्यास आरम्भ होता है। दोनों मित्र धनी पिताओं के पुत्र हैं पर
को पिता का स्नेह भी साथ ही प्राप्त है, जो प्रथम को नहीं। दोनों
कार समान हैं किन्तु प्रथम में प्रतिक्रिया के आरम्भ होने से समाज
ही प्रवृत्ति और त्याग की तत्परता की वृद्धि तीव्रता से होती है।

अमर के चरित्र-विकास में धनी पिता के चरित्र तथा धन-वृद्धि के
। उपायों के प्रतिक्रिया के साथ ही समान विचार वाले मित्र की प्राप्ति,
विपरीत स्वभाव वाली पत्नी के विचारों के प्रति विद्रोह की भावना का
प्रयोग है। सुखदा विलासिनी स्त्री है जिसे सांसारिक सुख और ऐश्वर्य
अभिलाषा है। पिता और पत्नी के स्वभाव में कुछ समता होने के कारण
कान्त और भी विचलित हो उठता है। सुखदा विभव आदि उन बातों
महत्व देती है जिन्हें अमर तुच्छ समझता है। अतएव आश्चर्य नहीं कि
दा प्रथम अपने नाम के विपरीत दुखदा प्रमाणित होती है। यद्यपि उसमें
भी उसमें परिवर्तन की क्षमता थी। प्रतिक्रियावादी पति ने उसके अन्त-
। की गहराई को पाया ही नहीं। अन्य विचारशील-युवक उसे समझने
: समझाने की चेष्टा कर सफलीभूत हो सकता था।

पुत्र प्राप्ति पर अमरकान्त में कुछ परिवर्तन परिलक्षित होता है। पत्नी
समझौता भी हो जाता है। पिता और पत्नी से कुछ काल के लिए जो
सामञ्जस्य हो जाता है उसके लिए पुत्र की भविष्य चिन्ता ही उत्तरदायी
। किन्तु इस समझौते की वह उतनी गहरी नहीं जितनी कि [illegible]

की थी। विचार-वैषम्य के कारण उसे जो सुख पत्नी में अन्यत्र प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह एक अकिंचन लड़की सकीना की सरलता पर उसके विनय और उसकी को न्योछावर करना चाहता है, किन्तु एक अविवाहित लड़की से एक अभिजात और धनी कुल के विवाहित हिन्दू प्रवृत्ति और प्रेम को समाज किस प्रकार सहन करता ? कल्पना सहज ही करली और अपने को देश निष्कासन दे लिया।

परदेश में जाकर अमरकान्त गाँव में चमारों की बस्ती में करता है। अपने स्वभाव के अनुसार पत्नी न पाकर अथवा उसे कूल बनाने की असमर्थता के कारण उसका मन अस्थिर रहता है। अन्य स्त्री को निष्काम सेवा पर मुग्ध हो जाता है। सकीना के पर आसक्त होना इसी बात का परिचायक है। मुन्नी एक विवाहिता स्त्री है, जो विदेशी सिपाहियों के द्वारा चरित्र-भ्रष्ट होकर अपना दूसरों की सेवा में अर्पित करती है और कुल को अकलंकित रखने से पति की इच्छा के विरुद्ध पति और पुत्र दोनों को स्वेच्छा से देती है।

अमरकान्त की दुर्बलता पर सकीना ने अपने सच्चरित्र और प्रेम से, मुन्नी ने अपनी निष्काम सेवा से, सुखदा ने चरित्र-परिवर्तन से, और नैना ने त्याग और समाज सेवा से, विजय प्राप्त की। मुसलमान लड़की सकीना पहले ही से सलीम के लिए सुरक्षित रक्खी गई है। अमरकान्त से उसका अल्पकालीन सम्पर्क करा कर तो अमर के ही चरित्र का विकास कराया गया है और उसके तथा सुखदा के दाम्पत्य जीवन की विशृंखलता दर्शाई गई है। इसी प्रकार नैना का बलिदान भी सोद्देश्य है। सकीना को अमरकान्त से छुटकारा दिलाने के लिए नैना का बलिदान कर उसके रिक्त स्थान की पूर्ति सकीना से कराई गई है। सुखदा के प्रति उसका यह कथन सुखदा की शंका को ही दूर नहीं करता उसके और अमर के सम्बन्ध को निर्दोष

कर उसे सलीम से भी जोड़ने में सहायक होता है—'तब उन्हें
ी जरूरत थी, आज बहन की जरूरत है।' कहने की आवश्यकता
बिना नैना के त्याग के भी यह कार्य सम्पन्न हो सकता था परन्तु
उदार जीवन का अन्त बलिदान में दिखाकर सकीना की समस्या को
की यह नाटकीय योजना की गई है।

नीराम के पुत्र मनीराम के चरित्र का विकास अनुकूल ही हुआ है
ी (नैना) की हत्या उसके स्वभाव के विरुद्ध बात नहीं। धनीराम से
की उपासना का पाठ मिला है। अतएव धन (money) ही
र का सर्वस्व है। इसके सदृश ही धनी गृह में उत्पन्न होने पर भी
संस्कारों के वश अमरकान्त का स्वभाव ठीक इसके विपरीत था।
के स्वर्गवास से मातृ-प्रेम और सहानुभूति से वञ्चित होने के कारण
ने अपने पिता से विद्रोह किया और नैना में अपने प्रेम का सञ्चय
किन्तु सती-साध्वी भोली और उदार नैना विषयी मनीराम के प्रेम
पा सकी और न उसे इसकी अभिलाषा ही थी। विपरीत स्वभाव के
वैमनस्य से दोनों का वैवाहिक जीवन आरम्भ होता है और उसका
ति के पुनर्विवाह और नैना की हत्या में होता है।

विपरीत स्वभाव की विषय भूमि पर अमरकान्त और सुखदा के चरित्रों
ी विकास हुआ है। विलासिनी सुखदा अत्यन्त रूपवती होने पर भी
कारी और विरागी पति के हृदय पर विजय न पा सकी। सकीना के
में 'वे पूर्व जाते थे तो वह पश्चिम'। इसीसे तो उन्हें औरत की जरू-
ी। सुखदा के परिवर्तन होने पर यह आवश्यकता मिट गई और नैना
ी ने पर सकीना नैना की स्थानापन्न हो गई। सकीना ने स्वयं को
कान्त के चरणों में अर्पित कर दिया था पर वह यह प्रेम अपने मन में
हुए थी। उसने अमरकान्त की मुहब्बत का तमाशा नहीं देखना
। इसी कारण वह उसकी बहिन हो सकी और सलीम के प्रेम को प्राप्त
सकी।

ार पर विकसित हुई। अमर से सुखदा, समरकान्त और नैना को
ास होती है। मुन्नी और पठानिन ने परिस्थितियों से पराभूत होकर
ो अपनाया था।

ुत उपन्यास में प्रेमचन्द ने अपने विभिन्न पात्रों को कर्मभूमि के
नुष्ठान में प्रवृत्त कराया है तथा तत्परता और त्याग का प्रदर्शन कर
कर्मनिष्ठा के आधार पर कथा को विकसित किया है। इतना ही
तिकूल प्रवृत्ति वाले भी क्रमशः परिवर्तित होकर समान आचरण
लगते हैं। दीर्घकाय उपन्यास में परिवर्तन की अवस्थाएँ स्पष्टतया
चर होती हैं। गति मन्द हो, पर परिवर्तन अवश्यम्भावी है। यह
न स्थिर आदर्शों की ओर उन्मुख है, इसीलिए मैंने उपन्यासकार की
ो सोद्देश्य कहा है।

उपन्यास की सृष्टि के पूर्व हृदय में साहित्यिक उद्देश्य की कल्पना
विकतया आदर्शोन्मुख तो बना ही देती है और कला के प्रयोजन की
ध्यान भी उस स्थिति उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है। यह ठीक
न्तु यथार्थ जीवन की पृष्ठभूमि पर कथा को विकसित कर जब उप-
कार वास्तविक जीवन पर अपनी अन्तर्दृष्टि को व्यक्त करता है तब
आदर्श भी वास्तविकता से सम्बद्ध होने के कारण हृदयग्राही और
ितियोगी हो जाते हैं।

यथार्थता के आधार पर स्थिर साहित्यिक उद्देश्य के निर्वाह से यद्यपि
के लक्ष्य की पूर्ति हो जाती है तथापि आदर्शों की महत्ता या उनका
ही हमें विशेष रूप से प्रभावित करता है। इसके विपरीत जब उपन्यास-
आदर्शों को स्थिर रखते हुए यथार्थ चित्रण और यथार्थ चरित्र
ण में ही लीन हो जाता है तब आदर्शों की प्रतिष्ठा यद्यपि पूर्ववत्
र रहती है तथापि उनकी अपेक्षा जीवन की यथार्थता ही हमें अधिक
भिभूत करती है। मेरे मत में साहित्य का यही मार्ग अधिक हृदयग्राही
र कल्याणकारी होता है। उपन्यास का उदाहरण लें तो निर्दिष्ट दोनों
प्रकार के उपन्यासों में साहित्यिक उद्देश्य का अस्तित्व रहेगा। प्रथम में

वह काव्यार्थ के ऊपरी धरातल पर ही स्पष्ट दीख पड़ेगा
वह जीवन की यथार्थता के अन्तर में प्रच्छन्न होगा।

साहित्य की अन्य श्रेणियों की अपेक्षा कथा साहित्य
साहित्यिक लक्ष्य की पूर्ति के अतिरिक्त मनोरञ्जन की
प्राप्ति के इच्छुक रहते हैं। ऐसी दशा में आदर्शों की अपेक्षा
और यथार्थता में ही हम अधिक लीन होते हैं। उपन्यासकार
सिद्धान्तों और उनके निरूपण और विकास में हमारा उतना
रहता। अतएव आदर्शों के वर्तमान होते हुए भी जब वे
धारण न कर प्रच्छन्नावस्था में रहते हैं और जब सारी कथा-वस्तु में
ही व्याप्त रहती है तब कथा निस्सन्देह विशेष आह्लादकारिणी हो

कर्मभूमि में देश-प्रेम, समाज-सेवा, अछूतोद्धार, रूढ़ियों के
दलितों के प्रति उदारता, लोकोपकार मानवता-प्रेम इत्यादि, भाव
से पाये जाते हैं। उपन्यास-साहित्य में साहित्यिक उद्देश्य कथा
चित्रण के सहारे ही व्यक्त किये जाते हैं। अतएव वस्तु और पात्र
कार के सिद्धान्तों के वाहक हो सकते हैं। प्रस्तुत उपन्यास की
पारदर्शी (transparent) हैं जिसमें ये सिद्धान्त स्पष्टतया दृष्टिगोचर
हैं और हम बड़ी सरलता से उपन्यास पढ़ते ही इनकी गणना कर लेते
वास्तव में कथा का विकास और चरित्र निर्माण ही इन सिद्धान्तों
पर हुआ है। कथन के सारे कथोपकथन, अभिभाषण और आन्दोलनों में
उपन्यासकार के आदर्श मेघ में वाष्प के सदृश आच्छादित हैं। चरित्रगत
विकास, परिवर्तन इत्यादि इन्हीं सिद्धान्तों से प्रेरित हैं। 'गोदान' में भी
समान भावनाएँ वर्तमान हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रबल मोह भी
उपस्थित है। किसानों और श्रमजीवियों के उद्धार की बेगवती इच्छा है।
फिर भी वहाँ इन सब आदर्शों और सिद्धान्तों की प्रधानता को स्थान नहीं
नहीं दिया गया और न उनकी पृष्ठभूमि पर कथा विकास और चरित्र चित्रण
किया गया है। वहाँ पृष्ठभूमि है यथार्थ जीवन। इस उपन्यास में उठ उठ
कर गिरने वाले दुर्बल मानव का चित्रण है

परन्तु यथार्थ अन्तर्दृष्टि ने लेखक को आदर्शों में निमग्न नहीं किया। नीरा जीवन का इतना सच्चा और वास्तविक चित्रण है कि सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए उसकी बलि नहीं दी जा सकी। 'गोदान' में कार के स्थिर आदर्श व्यंग्य हैं, वर्ण्य नहीं। 'कर्मभूमि' तथा प्रेमचन्द य उपन्यासों और 'गोदान' में यही भेद है। लेखक के विशालकाय सों में आचार के सिद्धान्त (प्रचार की भाँति ही) सुरक्षित हैं पर म उपन्यास में वे अपेक्षाकृत कम प्रधानता धारण करते हैं। विकृत धर्म और अनुकरणीय मानव धर्म की विशद व्याख्या की गई है पर चित्रण में निजी सिद्धान्तों का आरोप नहीं किया गया। चरित्र-चित्रण रक शक्ति वास्तविकता ही है। यह मार्ग उपन्यासकार के लिये बहुत ही कूल होता है क्योंकि उसे आलोचना के लिये अप्रतिहत क्षेत्र रहता ही प्रस्तु 'कर्मभूमि' और इतर उपन्यासों की यह कमी अन्तिम उपन्यास री हुई है।

साहित्य का मानदण्ड

साहित्यिक मूल्याङ्कन की चेष्टा साहित्य-सृष्टि के
आयी है। और इस प्रश्न का कि साहित्य का मूल्याङ्कन
करने की कोशिश भी उक्त चेष्टा के समानान्तर चलती रही है।
का इतिहास एक बात को स्पष्ट रूप में प्रमाणित करता है, कि
प्रकार एवं मान बदलते रहे हैं। सम्भवतः यही कथन नैतिक
प्रकार के मानों के सम्बन्ध में लागू है और हम देखेंगे कि
मानों में परिवर्तन होने के नियम अन्योन्य से सर्वथा असम्बद्ध नहीं

यह स्पष्ट है कि श्रेष्ठ साहित्य अथवा सदाचार के नियम
कृतियों एवं श्रेष्ठ आचरण-सम्बन्धी अनुभव के बाद बनाए गए।
अथवा महाभारत के प्रणयन के बाद ही महाकाव्य के स्वरूप और
नियमों की धारणा या चेतना जगी होगी और शुभाशुभ आचार
एवं सभ्यता के जन्म के साथ ही लगा हुआ है। ध्यान देने की बात
है कि श्रेष्ठ काव्य के नियामक नियमों की धारणा में अजस्र परिवर्तन
आया है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार साहित्यिक प्रबन्ध का नायक धीरो
दात्त अथवा धीरललित, सुन्दर, शिष्ट तथा सदाचारी होना चाहिए, किन्तु
आज इस धारणा में परिवर्तन हो गया है। कहा जा सकता है कि आज का
उपन्यास प्राचीन महाकाव्य का ही उत्तराधिकारी अथवा गद्य-संस्करण है और
उसमें सब प्रकार के नायक-नायिकाओं एवं पात्रों का वर्णन रहता है।
वस्तुतः आधुनिक उपन्यास का विषय मानवता ...
और जीवन है ...

से प्रतीत होता है। इसी प्रकार काव्य-सम्बन्धी नियमों में भी काफी हो गया है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि आज जहाँ हमारी म्बन्धी धारणा एवं साहित्य-सृष्टि के नियमों में बहुत कुछ विपर्यय –और आज भी इनके सम्बन्ध में मतैक्य प्राप्त नहीं है—वहाँ कलाकारों एवं उनकी कृतियों के मूल्य में, स्वयं हमारी दृष्टि में, रिवर्तन नहीं हुआ है। आज भी हम वाल्मीकि और कालिदास को मानते हैं; इसी प्रकार यूनान के प्राचीन नाटककारों तथा कवियों ता भी अक्षुण्ण है। अवश्य ही इस नियम के अपवाद हैं, मार त्यमट्ट अथवा श्रीहर्ष आज हमें उतने बड़े नहीं दिखाई देते जितने अपने युग के आलोचकों को लगते थे। किन्तु इसका कारण शायद है कि यह कलाकार आन्तरिक प्रेरणा की अपेक्षा आलोचना शास्त्र के पर अधिक निर्भर करते रहे। सम्भवतः उस काल के भी अधिकांश य पाठक जानते थे कि दुरूह श्लेष आदि के बाँधने में कुशल यह कवि-वाल्मीकि और कालिदास के समकक्ष नहीं हैं।

यदि साहित्य-सृष्टि के नियम इतने परिवर्तनशील हैं और यदि अपेक्षा-श्रेष्ठ कृतियों की महत्ता सार्वकालिक है तो नियमों के बदले उन कृतियों ही कलात्मक श्रेष्ठता का मापक क्यों न मान लिया जाय ? वस्तुतः अज्ञात-से प्रायः सभी आलोचक उक्त मानदण्ड का प्रयोग करते हैं। आवश्य-ता इस बात की है कि हम सचेतन-भाव से उसे ग्रहण कर लें और उसे युक्त करने के नियमों को स्पष्टता से समझ लें।

उक्त मानदण्ड को ग्रहण करने का अर्थ मूल्याङ्कन सम्बन्धी किन न्यताओं का विरोध अथवा परित्याग करना है—यह हम शीघ्र ही देखेंगे। किन्तु इससे पहले हम यह देखने की चेष्टा करें कि मूल्याङ्कन का यह पैमाना न्हीं दूसरे क्षेत्रों में प्रयुक्त होता है या नहीं। वस्तुतः इस पैमाने का व्यव-हार जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में बराबर होता है। मूल्याङ्कन का उद्देश्य एक कोटि के पदार्थों की तुलना कर सकता है—जैसे हम वाल्मीकि और होमर अथवा शेक्सपियर और कालिदास किंवा बुद्ध और ईसा की तुलना

करते हैं। तुलित पदार्थों, कृतियों या व्यक्तियों, का
समय हमारी दृष्टि प्रायः किसी आदर्श पर टिकी रहती है
अथवा कृतियों के आविर्भाव के साथ ही हमारा यह
है और हमारा मूल्याङ्कन नवीन आदर्श के अनुकूल चलने
नहीं, एक ही काल में हमारे सामने अनेक ऊँचे आदर्श रह
सहायता से हम तरह-तरह के व्यक्तियों अथवा कृतियों
सकते हैं। कारण यह है कि महत्ता एक ही प्रकार की नहीं
और अशोक बड़े दिखाई देते हैं वहाँ नेपोलियन और
अभिभूत किये बिना नहीं रहते; हम हिटलर और महात्मा
महत्ता से चकित होते हैं। इसी प्रकार 'मुद्राराक्षस' और
हमारी कल्पना को स्पर्श करते हैं।

प्रत्येक युग में परीक्षकों को किसी भी क्षेत्र में उच्चतम आदर्श
रखनी पड़ती है। नैतिक श्रेष्ठता पर विचार करते हुए आज हम
गांधी को नहीं भूल सकते। यही नहीं, परवर्ती युगों में,
नहीं हो गया है, तो पिछले युगों के आदर्शों का भी ध्यान रखना
वस्तुतः देश और काल दोनों ही में होने वाला दृष्टि-प्रसार
को प्रभावित करता है। यही कारण है कि जातीय एवं
के रहते हुए भी योरपीय इतिहास से परिचित होने के बाद
प्रताप तथा शिवाजी को सीज़र एवं नेपोलियन का समकक्ष घोषित करते
सङ्कोच का अनुभव करते हैं। हमारे देश में भी विजयी, सैन्य-सञ्चालक और
वीर उत्पन्न हुए हैं, इसके निदर्शन पाने के लिए हम प्रायः अपने देश के प्राचीन
इतिहास की ओर देखने लगते हैं। अथवा हम विभिन्न महत्ताओं की पार-
स्परिक तुलना करके यह निष्कर्ष निकालने लगते हैं कि यह महत्ता जिसकी
अभिव्यक्ति हमारे ऐतिहासिक पुरुषों में हुई है अधिक उदात्त अथवा श्लाघ्य
है। इस प्रकार की तुलना में भी महत्त्वशाली व्यक्ति एवं कृतियाँ स्वयं एक
दूसरे का मापक बन जाती हैं। ऊपर के निदर्शन से यह भी स्पष्ट है कि
मूल्याङ्कन के लिए केवल अपने युग पर दृष्टि रखना पर्याप्त नहीं होता अपितु

। के उपलब्ध अतीत को भी सांस्कृतिक आवेष्टन (Cultural ironment) का भाग मान लेना पड़ता है। यह बात साहित्यिक न के क्षेत्र में उतनी ही लागू है जितनी कि किसी दूसरे क्षेत्र में। कुछ दृष्टियों से साहित्यिक मूल्याङ्कन में अतीत युगों पर ध्यान रखना : समुचित है क्योंकि साहित्यानुशीलन हमारी जिस रागात्मिका-वृत्ति । भावुक अन्तःप्रकृति को प्रभावित करता है वह हमारे बहिरङ्ग आचार तौद्धिक विश्वासों की अपेक्षा कम परिवर्तनशील है।

जैसा कि हम संकेत कर आए हैं मूल्यांकन सम्बन्धी हमारा यह मन्तव्य पय प्रचलित धारणाओं के विरुद्ध पड़ता है। एक ऐसी धारणा का यह न्त है कि साहित्य की परीक्षा भीतर से होनी चाहिए, बाहर से नहीं। हरण के लिए आई० ए० रिचर्डस् ने किसी आलोचक की आलोचना ो हुए लिखा है कि—

This type of adverse criticism, objection brought to a *poem for* not being quite a different poem, without regard paid to what it is as itself, ought to be less common.........no poem can be judged by standards external to itself.

(Practical Criticism)

अर्थात् किसी कविता को इसलिए बुरा नहीं कहा जा सकता कि वह अपने से भिन्न किसी दूसरी कोटि की कविता नहीं हैं। कोई भी कविता अपने े बहिरङ्ग मानों द्वारा नहीं आंकी जा सकती। अभिव्यञ्जनावादी स्पिनगार्न का भी कुछ ऐसा ही मत है। उसके अनुसार आलोचक को यान्त्रिक नियमों अथवा मानों का प्रयोग करने के बदले यह देखने की चेष्टा करनी चाहिए कि कलाकार क्या व्यक्त करना चाहता था और वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टिकोण में सत्यता का अंश है, यद्यपि उस अंश को बुद्धि-गम्य भाषा में प्रकट करना सरल नहीं है। कालिदास के मेघदूत को यदि हम इस दृष्टि से आँकना चाहें कि उसने दलितों

के उद्धार में कितनी सहायता की है, एवं गोर्की या कुप्रिन
तुलना में उसका क्या स्थान है तो यह हमारी मूर्खता होगी
यह प्रश्न करना कि मनोवैज्ञानिक चित्रण की दृष्टि से
अथवा 'हैमलेट' समीचीन नहीं है। किन्तु किसी भी दशा में
तो उठाना ही होगा कि काव्य विशेष में अभिव्यक्त अनुभूति
पूर्ण है। और इस प्रश्न का उत्तर केवल यह संकेत कर देना
कलाकार अपने को व्यक्त करने में कहाँ तक समर्थ हुआ है।
अभिव्यक्तिगत सफलता का कारण मूल अनुभूति का साधा
परम्परायुक्त होना भी हो सकता है। प्रश्न यह है कि इस
उद्दिष्ट अथवा अभिव्यक्त अनुभूति का मूल्यांकन किस प्रकार करें।
यह मान लिया जाय कि इस प्रकार का मूल्यांकन अभीष्ट नहीं है।
उस दशा में हम सफल पद्य-निर्माता पोप तथा शेक्सपियर में
मूल्यगत भेद कर सकेंगे?

दूसरी धारणा जो हमारे मन्तव्य के विरुद्ध पड़ती प्रतीत होती है
है कि किसी कला-कृति के मूल्यांकन में हमें मुख्यतः यह देखने की
करनी चाहिए कि उसका अपने युग से क्या सम्बन्ध है। जिसे
आलोचना कहते हैं वह मुख्यतया कवि के युग, वातावरण, जाति (Race)
एवं कला सम्बन्धी मान्यताओं का अन्वेषण करती है। अवश्य ही इस
प्रकार की आलोचना हमें यह समझने में सहायता देती है कि क्यों विशिष्ट
कलाकृति ने विशिष्ट रूप धारण किया, अथवा किन शक्तियों द्वारा उसका
प्रस्तुत रूप निर्धारित हुआ; पर वह आलोचना उस कृति का मूल्य आँकने
में भी सहायक होती है, इसमें सन्देह है। किन्तु 'युग' को कला का मापक
बनाने के पक्षपाती एक दूसरे ढङ्ग की कसौटी भी सामने रखते हैं—क्या
कलाकार ने अपने युग अथवा परिस्थितियों से प्रगतिशील समझौता किया
है, क्या वह उन शक्तियों का प्रभावपूर्ण निर्देश कर पाया है जो उसके युग
को आगे बढ़ा सकती हैं? इस कथन के बाद कि आलोचक को गुण दोष-
विवेचन से आगे बढ़कर रचयिता के मन को परखना चाहिए, अतएव बड़ी

नारी समक्ष में कलाकार के मन की परख के लिए यह देखना ; है कि अपनी परिवृत्ति से उसका सम्बन्ध कैसा है, यथार्थ के के प्रति उसका रवैया क्या है, उससे क्या प्रतिक्रिया उसमें होती है।

(परिस्थिति और साहित्यकार)

ः धारणा में भी बहुत कुछ सत्य है, पर साथ ही वह कुछ अस्पष्ट त्मक भी है। ज्ञान की भाँति कला भी आवेष्टन के प्रति प्रतिक्रिया , इसमें सन्देह नहीं। किन्तु आवेष्टन एवं युग दोनों ही की व्याख्या सरल नहीं है। बहुत से प्रगतिवादी आलोचक-युग को मनुष्यों के ; एवं सामाजिक अथवा वर्गगत सम्बन्धों का पर्याय समझते हैं। किन्तु युग अथवा आवेष्टन में मानवता का सम्पूर्ण इतिहास समाया हुआ है मनुष्य की सारी आशाकांक्षाएँ, उसकी हारें और जीतें, उसके संशय सन्देह, प्रश्न और समाधान सब उसमें सन्निविष्ट हैं। इस दृष्टि से मानवी ान निरन्तर अधिक जटिल एवं विस्तृत होता जा रहा है। इस आवेष्टन त्मात्मक व्याख्या का प्रयत्न भी अधिकाधिक संश्लिष्ट होता जा रहा है उसके अनुष्ठान में कलाकार को इतिहास के सब युगों से सहायता एव ते लेना आवश्यक हो गया है। इस दृष्टि से यह भी देखा जा सकता है किस प्रकार आज की कला प्राचीन काल से आती हुई सांस्कृतिक शृङ्खला ही एक कड़ी बन जाती है और यह असम्भव नहीं है कि मानव सभ्यता भौतिक इतिहास की सहायता के बिना ही उसके सांस्कृतिक पहलू की त्मा जा सके।

काव्य की अन्तरङ्ग परीक्षा एवं उसकी युगापेक्षी समीक्षा इन दोनों ष्टिकोणों की आंशिक सत्यता को स्वीकार करते हुए भी हम उन्हें पर्याप्त हीं समझते। हम मानते हैं कि अन्ततः किसी सांस्कृतिक प्रयत्न के मूल्याङ्कन लिए हमें उसे दूसरे समान प्रयत्नों से तुलित करना पड़ेगा और यह दूसरे यत्न युग-विशेष तक ही सीमित नहीं किये जा सकते। उपर्युक्त मान्यताओं ; हिमायतियों से हम एक प्रश्न करते हैं—साहित्यिक आलोचक के लिए य साहित्य का अनुभव अपेक्षित है या नहीं? हमारा विश्वास है कि एक

देश कालोचक भिन्न प्रतीत और वर्तमान की ... नहीं है। किसी नवीन साहित्यिक कृति की उचित ... वह कृति विशेष को न मीआर से देखकर अनेक महान् रचनाओं की कसौटी पर कस कर। साहित्यिक अनुभूति मने ही निर्णय कर सके कि कोई कृति देश की ... कितनी उपयोगी है अथवा युग के सञ्चालन में कहाँ तक पर यह उसका कलात्मक मूल्य इंगित न करके ... गुप्तजी की 'भारत-भारती' अपनी सृष्टि के समय, देश की कृति कही जा सकती थी; पर इसी से उसके कलात्मक ... किया जा सकता था। साहित्यिक-समीक्षक के लिए विस्तृत ... अपेक्षित है। इसे रिचर्ड्स् और रिसनमर्न दोनों ने ही स्वीकार यह अनुभव क्यों अपेक्षित है, इसका विचार करने की ...

महाकवियों की वाणी से परिचय हमें आलोचना सहायता देता है ? और उस परिचय को मूल्याङ्कन के क्षेत्र में प्रयुक्त किया जा सकता है ? इन प्रश्नों का उत्तर पाने से ... लेना चाहिए कि सांस्कृतिक मूल्याङ्कन के किसी भी क्षेत्र में की भाँति नपे-तुले निर्णय सम्भव नहीं हैं। वहाँ हम अधिक से व्यापार, कृति अथवा व्यक्तित्व को उत्कर्ष की एक विशेष श्रेणी में है। किसी कृति अथवा कलाकार के सम्बन्ध में हमारा निर्णय नहीं जा सकता कि वह प्रथम, द्वितीय अथवा किसी अन्य श्रेणी में होने योग्य है। कालान्तर में, स्वीकृत प्रथम कोटि की वस्तु से का प्रादुर्भाव होने पर, ऐसे निर्णय में परिवर्तन भी हो सकता है। आज ऐसे परिवर्तन की सम्भावना कम रह गयी है—आज हमें ... आशा है कि अगले दो-चार हजार वर्षों में हम कालिदास और ... से बड़े कलाकार एवं बुद्ध और ईसा से महत्तर व्यक्तित्व उत्पन्न कर महत् कृतियों अथवा व्यक्तियों का सम्पर्क हम में एक अनिर्वचनीय उत्कर्ष भावना उत्पन्न कर देता है जिसकी तुला पर हम नवीन प्रयत्नों ...

vement) को तोल सकते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार का
में उत्कर्ष के विभिन्न धरातलों को पहचानने की क्षमता प्रस्फुटित
है।

सर जोड ने एक जगह लिखा है कि जो लोग वर्तमान काल में
बनना चाहते हैं उनका एक प्रमुख कर्तव्य यह है कि वे अतीत
की वाणी अथवा विचारों से परिचय प्राप्त करें। इस प्रकार का
उनकी सम्मति में संस्कृति का आवश्यक अंग है। मानवता की
सांस्कृतिक लब्धियों, उसकी कला और विचार वैमर्ष आदि के ज्ञान
लाभ होता है ! उनका उत्तर है—

hey build up certain standards of literary
ntellectual taste which while they neither
ntee originality nor contribute to power
ought at least prevent a thinker from ma-
a fool for himself.

र्थात् इस प्रकार के परिचय से साहित्यिक एवं बौद्धिक अभिरुचि
का एक धरातल अथवा मानदण्ड की चेतना प्राप्त करती है जो
रद चिन्तन प्रयत्नों में विरक्ति उत्पन्न कर देती है। उच्चकोटि के विचा-
अथवा कलाकारों का परिचय रखने वाला व्यक्ति अपनी उन रचनाओं
शा में लाते हुये संकोच का अनुभव करेगा जो बहुत नीची श्रेणी की
ह शिक्षा सभी प्रकार के लेखकों एवं विचारकों के लिए उपादेय है।

क्या उस मूल्याङ्कन-भावना का जो महान् कृतियों के अध्ययन से प्राप्त
है, कोई बौद्धिक विवरण या विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है ?
र ही आलोचकों को इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिये। महान् कला-
की अनुभूति में क्या विशेषतायें रहती हैं, इसका सामान्य विवेचन
की चेष्टायें कम हुई हैं। इसके विपरीत उनकी शैलीगत अथवा बहिरङ्ग
ताओं का विवरण देने में बहुत परिश्रम व्यय हुआ है। संक्षेप में कई

जो उच्चकोटि की साहित्यिक अनुभूति की दो
व्यापकता और गम्भीरता। महान कलाकारों की
हमें जीवन के विस्तृत चित्रपट से परिचित कराती
छवियों से हमारा गहरा सम्बन्ध स्थापित करती है।
वह वाणी स्पष्ट, प्रभावपूर्ण और अर्थशालिनी लगती
रिक रूप में वह अपने जीवन की गहराइयों और मर्म
वाली होती है। इसके विपरीत निम्न श्रेणी की कला में
एवं कल्पना का चमत्कार ही प्रधान रहता है; वह ज
मर्मस्थल को नहीं छूती, विश्व की ऊपरी झाँकी प्राप्त
करके ही रह जाती है।

बड़े कलाकारों की वाणी में एक और विशेषता होती
मौलिकता। श्रेष्ठ कलाकार विश्व को अपनी दृष्टि से देखता
जीवन से प्रेरणा लेता है, इसलिए उसकी दृष्टि अतीत
पर नहीं मालूम पड़ती। हो सकता है कि वह अतीत की नई
ज्ञात या अज्ञात भाव से सन्निवेश करले; किन्तु उसकी सृष्टि
उसकी अपनी दृष्टियों से नितान्त नये ढंग से सम्बद्ध होकर।
समष्टियों को उत्कृष्ट कर देती हैं और इस प्रकार स्वयं भी एक
धारण कर लेती है। कलाकार जीवन का मौलिक द्रष्टा होता
यह अर्थ नहीं है कि वह दूसरे कलाकारों अथवा वैज्ञानिक
उपेक्षा करता है। कलात्मक मौलिकता का ज्ञान से कोई विरोध नहीं
यह आवश्यक नहीं है कि कलाकार विज्ञान और दर्शन की ज्ञान
अपने को वंचित रखे। इसके विपरीत प्रत्येक युग के कलाकार को
एवं सम-सामयिक विचार राशि का काफी परिचय रखना आवश्यक
है। आधुनिक काल के बर्नार्ड शा, आल्डस हक्सले, इलियट आदि
हमारे कथन की सत्यता के निदर्शन हैं। स्वयं हमारे रवीन्द्र भी
प्रवीण लेखक थे। किन्तु कलाकार विभिन्न दार्शनिक एवं वैज्ञानिक
को पण्डित (Scholar) की तर्क-दृष्टि से नहीं देखता वह उनका अप

। प्रायः जीवन और जगत् की उन मर्मच्छवियों की अवगति के लिए ता है जिनकी तीव्र 'प्रतीति' ने उन वादों एवं सिद्धान्तों को जन्म दिया । शास्त्रीय वाद एवं सिद्धान्त कलाकार को बाँधते नहीं, जैसा कि पंडितों या इतर पाठकों के साथ होता है; वे केवल उसके दृष्टि-प्रसार में सहायक ते हैं, उसकी जीवन-दर्शन की क्षमता को तेज करते हैं ।

जीवन की क्रियाओं तथा अनुभूतियों की परिधि, उसका आवेष्टन एवं तिक्रियाएँ निरन्तर विस्तृत होती रहती हैं; इसीलिए प्रत्येक युग में नये कलाकारों की आवश्यकता होती है जो विस्तारशील जीवन-छवियों की सम्बद्ध व्याख्या प्रस्तुत कर सकें । कलाकार अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध, अधिक प्रतिक्रियालु और संवेदनशील होता है इसीलिए उसकी उक्ति नूतन लगती है । साथ ही वह युग की अव्यक्त भावनाओं को प्रकाशित भी करती है । दीपक की भाँति अपने युग अथवा वातावरण को प्रकाशित करता हुआ कलाकार स्वयं ही अपनी सीमाओं की चेतना दे देता है । युग से विच्छिन्न कलाकार की अनुभूति अन्य विशेषताएँ भले ही प्राप्त करलें वह नूतन अथवा मौलिक नहीं हो सकती । इस दृष्टि से किसी युग का श्रेष्ठ कलाकार अतीत मानों से तुलित होता हुआ भी युग की कसौटी से पलायन नहीं कर पाता । मौलिकता अथवा नूतनता के रूप में युग, कलाकार से अपनी विशिष्ट माँग पेश करता है । इसीलिए वाणी की पूर्णता के बावजूद रत्नाकर का 'उद्धव-शतक' एक प्रथम श्रेणी की कृति नहीं है । बात यह है कि श्रेष्ठ कलाकार से हम जिस चीज की आशा करते हैं वह अनुभूतिगत नूतनता है केवल शैली की विचित्रता नहीं । इस कसौटी पर कसने से जेम्स ज्वाइस जैसे उपन्यासकार हार्डी आदि की तुलना में छोटे ठहरते हैं ।

यह आवश्यक नहीं कि नवीन कलात्मक माध्यम में लिखने वाला नये युग का व्याख्याता श्रेष्ठ कलाकार पहले हमारे देश या भाषा में ही उत्पन्न हो । आधुनिक युग में, देशगत सीमाओं की कृत्रिमता के कारण, इस प्रकार की सम्भावना और भी कम हो गई है । इसलिए आज साहित्य में, प्रान्तीयता का बहिष्कार करके, दृष्टि-विस्तार करना नितान्त आवश्यक हो गया

है। उदाहरण के लिए उपन्यास कला का उदय पश्चिम में मकता है कि हमें उसके मान, उसकी उत्तम अभिव्यक्ति, पड़े। यों भी विभिन्न साहित्यों एवं संस्कृतियों का सार्वभौम दृष्टि-उन्मेष अथवा सभ्यता की प्रगति के लिए ज्ञान की भाँति कला भी सार्वभौम है; भविष्य में, विभिन्न राष्ट्रों विक निकट आने पर उसकी यह सार्वभौमता और भी बढ़ साहित्यिक मूल्यांकन भी अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय मानों से लगेगा। किसी भी भाषा में कलात्मक सृष्टि के महत्तम निदर्शन हैं, अतः साहित्यिक उत्कर्ष के अनेक रूपों से परिचित होने के देशीय साहित्यों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार के वन द्वारा ही हम तरह-तरह की कलात्मक सृष्टि के मानों को सकते हैं। योरुप ने कोई कालिदास उत्पन्न नहीं किया और ... कोई शेक्सपियर; इसी प्रकार सूर की कविता विश्व-साहित्य में अवश्य ही शेक्सपियर के अध्ययन से हम लोग, तथा सूर और ... के अध्ययन से योरुपीय लाभान्वित हो सकते हैं। दोनों ही जगह प्रक्रिया से साहित्यिक उत्कर्ष का धरातल ऊँचा होने की सम्भावना है।

हाल के एक लेख में बङ्गाली लेखक श्री बुद्धदेववसु ने ऊपर की मान्यता के विरुद्ध उद्‌गार प्रकट किये हैं। उनका विचार है कि सनसामयिक बङ्ग साहित्य को प्राचीन संस्कृत लेखकों अथवा अर्वाचीन अँगरेजी साहित्यकारों की तुलना द्वारा आँकने की चेष्टा उचित नहीं है, बङ्गाली लेखकों को उन्हीं के भाषा के कलाकारों से तुलित करना चाहिए:—

Both are wrong; for neither the standards of classical Sanskrit, nor those of English are quite suitable to Bengali literature........the time has come to create our principles of criticism by comparing one Bengali author to another.

(India, June 1945)

'अब समय आ गया है कि इन्द्र साहित्य के आधार पर साहित्यिक । आलोचनात्मक मानों का निरूपण किया जाय'; हमारी अपनी सम्मति त्तान्त से ठीक उलटी है। हमारा विश्वास है कि इस बढ़ते हुए अन्त- । सम्पर्क के युग में अन्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य में भी राष्ट्रीयता र उससे भी अधिक सङ्कीर्ण प्रान्तीयता) को आश्रय नहीं दिया जाना ए। अपने साहित्य का उचित गर्व होना बुरी बात नहीं है, पर इसका अन्य देशीय कलाकारों के प्रति उदासीन होना, अथवा उनकी उपेक्षा ा, नहीं है। इसी भाँति अन्य देशीय आलोचना और उसके मानों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसका यह अर्थ नहीं कि लेखकों को स्वयं ने वातावरण से लिखने की प्रेरणा नहीं लेनी चाहिए—यद्यपि यह सत्य के आज का लेखक विशाल मानवता की भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर ता। वस्तुतः कला की सार्वभौमता कलाकार के अनुभूत आवेष्टन से द्ध या सीमित नहीं होती, यदि ऐसा होता तो हम भारतीय हार्डी तथा नेट ब्रोंटे के उपन्यासों का रस न ले सकते। किन्तु आलोचक की ङ्कीर्णता एक दूसरी बात है। आलोचना बौद्धिक व्यापार है और उसके न सार्वभौम हैं, ठीक वैसे ही जैसे नीतिशास्त्र के नियम। यदि यह कहना स्यास्पद है कि हमें अपने नैतिक नियम केवल भारतीय नैतिक जीवन को ख कर बनाने चाहिएँ, तो उक्त लेखक का प्रस्ताव भी समुचित नहीं है। अंगरेजी उपन्यासकार ई० एम० फॉर्स्टर का मत हमें अधिक समीचीन गता है। वे कहते हैं कि 'आलोचक में प्रान्तीयता एक गम्भीर दोष है।' ही नहीं, अँगरेजी उपन्यासकारों की अन्य देशीय उपन्यास लेखकों से लना करके वे स्वदेशीय लेखकों को छोटा घोषित करते हुए भी नहीं हिचकिचाते—

.......provincialism in a critic is a serious fault........too many little mansions in English fiction have been acclaimed to their own deteriment as important adifices............No English

novelist is as great as Tolstoy—th has given so complete a picture of both on its domestic and heroic side. novelist has explored man's soul as Dostoevsky. And no novelist analysed the modern conciousness as fully as Marcel prosts. (Aspects of Page. 17, 16)

यदि अँगरेजी जैसे समृद्ध साहित्य के लिए अन्य देशीय तुलना से कलात्मक उत्कर्ष प्राप्त होने की सम्भावना हो सकती है, व्रत साहित्यों का तो कहना ही क्या। वस्तुतः साहित्यिक क्षेत्र की भावना उत्कर्ष की अपेक्षा हीनता बुद्धि की अधिक द्योतक मनोवृत्ति से हम भले ही बड़े कलाकार उत्पन्न करने का गर्व पा उत्कृष्ट कला कृतियों को उत्पन्न नहीं कर सकते। आलोचना का उद्देश्य मानवता की सांस्कृतिक चेतना अथवा श्रेष्ठ और सुन्दर की का पूर्णतम विकास करना है, किन्हीं व्यक्तियों, भाषाओं या साहित्यों महत्वस्थापन नहीं। वह समय शीघ्र ही आने वाला है, अथवा चाहिए जब विश्वविद्यालयों में अपने देश या भाषा के साधारण की तुलना में दूसरी भाषाओं या देशों के श्रेष्ठतर कलाकारों को पढ़ाया जायगा और भिन्न देशत्व, भिन्न भाषात्व आदि का भाव जाता रहेगा। ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी, यह वर्तमान वैज्ञानिक विकास का स्वाभाविक परिणाम तक पर्यवसान होगा।

रस का दार्शनिक विवेचन

की प्रतिपत्ति से भारत की भारती ने जो रूप पकड़ा उसका
हृदय और शोक का प्रतिफल बना। आज की विषम परिस्थिति
की विकट स्थिति में शोक सन्तप्त हृदयों में उसी के द्वारा सच्चा
र होगा, इसमें सन्देह नहीं। कहने को कोई कुछ भी कहता रहे
य और पते की बात तो यह है कि आदि कवि की आदि वाणी के
ण के बिना काव्य का यथार्थ खुल नहीं सकता और साहित्य का मर्म
आँखों से ओझल ही रह सकता है।

व्य का उदय—हमारे काव्य का उदय हुआ है इस पूत वाणी से—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

काम मोहित क्रौञ्च पक्षी के वध पर जिस मुनि को इतना कोप हुआ कि
भट बधिक को इतना घोर शाप दे दिया उसका शील भी कोई
य न था। वह दुर्वासा नहीं वाल्मीकि था। वाल्मीकि का आश्रम
पोवारण्य था। उसमें इस प्रकार का अत्याचार चल नहीं सकता था।
वाल्मीकि मुनि पर इस शाप का प्रभाव क्या पड़ा इसको भी जान लें
तब कहें कि सहृदय का शील किस सत्य का साथ देता है। कहते हैं—

तस्यैवं ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः।
शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया ॥
चिन्तयन्स महा प्राज्ञश्चकार मतिमान्मतिम्।
शिष्यं चैवाब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुंगवः ॥

पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः ।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा

श्लोक की सृष्टि कैसे हो गई और वाणी को पद्य का रूप कैसे मिला, यह भी यहाँ स्पष्ट ही है। 'पादबद्ध' 'अक्षरसम' श्लोक के लिए मुनि को किसी प्रकार का उद्योग नहीं करना पड़ा। शोकार्त शोक उमड़ा वह आप ही श्लोक बना। जो हो, महामुनि ने शाप दिया पर इससे उनको शान्ति न मिली। मिलती भी कैसे! शाप का मन्त्र जो हुआ था।

वाल्मीकि मुनि की इस दशा को देख ब्रह्मा ने हँसते हुए कहा

श्लोक एव त्वया बद्धो नात्र कार्या विचारणा।

मुनि का शाप न रहा वह श्लोक ही ठहरा, इसका कारण ब्रह्मा ने मुनि से इतना ही तो कहा—

मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन्प्रवृत्तेयं सरस्वती।
रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम॥

यह तो रही ब्रह्मा और राम की वार्ता। इधर शिष्यों की दशा यह हुई कि—

तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः श्लोकमिमं पुनः।
मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुश्च भृशविस्मिताः॥

जो कुछ वाल्मीकि मुनि के प्रसङ्ग में कहा गया है वही काव्य का सच्चा स्वरूप है। आज विश्व और विशेषतः अपने देश में 'अहिंसा', 'अर्थ' और 'काम' की मीमांसा चल रही है और फलतः साहित्य में भी इन्हीं का बोल-बाला है सो 'अहिंसा' के विषय में तो इतना कह देना पर्याप्त होगा कि वाल्मीकि मुनि को इसी का क्षोभ था कि उनके द्वारा यह हिंसा का कार्य हो गया। व्याध को शाप देना हिंसा का ही कार्य तो था! पर वह हिंसा नहीं ही हुआ। सब ने उसे 'पुण्य' ही समझा। कारण, उसकी प्रेरणा

की ओर से लोक-मङ्गल के हेतु हुई थी। व्याध ने क्रौञ्च का
र कैसे क्रौञ्च का! मिथुनादेक काममोहित का। प्रजनन में
न! फिर प्रजापति उसको दण्ड क्यों न दिलावें!

वासना—'मिथुन' और 'काम' की आज बड़ी चर्चा है।
(१८६६-१९४० ई०) और मावस (१८१८-१८८३) की कृपा
ान भी अच्छा मिल गया है, अतएव थोड़ा इसे भी देख लेना
वास्तव में मानव काव्य-क्षेत्र में इनका महत्व क्या है। फ्रायड
विषय में हमारा इतना ही कहना है कि वस्तुतः वह निदान के
कुछ विधान के रूप में नहीं, जो उसका इतना ज्ञापन हो रहा है।
ये भले ही उसकी शोध नवीन चमत्कार हो, पर, भारत के लिये
ति पुरानी बात है। भर्तृहरि (शृङ्गारशतक में) के इस कथन पर
दीजिए—

मदेवरूपी अपस्मार नाम रोग से पीड़ित हुए मनुष्य की व्यथा
त्र-तन्त्र से दूर होती है, न ओषधियों के प्रयोग से जाती है और न
ठ आदि के करने से ही शान्त होती है, किन्तु जब जब इसका
ा है तब तब रोगी के अङ्ग में न्यूनाधिक भाव से एक प्रकार की
दना उत्पन्न हो जाती है कि जिससे उसका शरीर टूटने लगता है,
ने लगता है और दृष्टि घूमने लगती है।"

ाराज कामदेव का दण्ड-विधान कहिए अथवा महामति फ्रायड की
उना है तो दोनों दशाओं में भी इन तपस्वियों की वही स्थिति!
हमारा मङ्गल कहाँ है! भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं—

जैसे अनुरागियों में पार्वती को अर्धाङ्ग में धारण करने वाले शिवजी
के शिरोमणि हैं वैसे ही विरागियों में भी संसार के भोग विलास का
त्याग करने वाले महादेवजी ही सब में अग्रगण्य हैं, क्योंकि कामदेव के
बाणों की असह्य विषाग्नि से सन्तप्त हुए अन्य जन तो मदन की
विडम्बित होकर न तो विषयादिकों का यथेच्छ भोग ही कर सकते हैं
उनका त्याग ही कर सकते हैं।"

सामरस्य—शिव की इसी महिमा का प्रतार है 'सामरस्य' का विधान है और उनमें खुलकर इसका गया है।

अतः यह कहने में कोई भ्रम नहीं दिखाई देता कि ने इस तत्व को भली भाँति समझ लिया था और किसी मनमानी के लिये इसे छोड़ नहीं दिया था।

किन्तु यह 'सामरस्य' सबकी लेती नहीं। यहाँ तो स्पष्ट

> शुद्धचित्तस्य शान्तस्य धर्मिणो गुरुसेविनः।
> अतिगुप्तस्य भक्तस्य सामरस्यं प्रकाशते ॥ ३३ । ३.

प्रसादजी ने अपनी 'कामायनी' में इस 'सामरस्य' का है, और—

> सामरस्य-प्रवहणं समारूढ नरोत्तमः।
> सर्गद्वीपान्तर गत्वा मोदरत्नं समश्नुते ॥ २० । .

को चरितार्थ कर दिखाया है। उनका 'आनन्द' सर्ग तो 'सामरस्य रास' का विवरण वा प्रसादन सा है। प्रसादजी कहते हैं—

> समरस थे जड़ या चेतन,
> सुन्दर साकार बना था।
> चेतनता एक विलसती,
> आनन्द अखंड घना था ॥

काम की परम्परा—अस्तु, हमें 'मिथ्याज्ञान-विदग्धों' से सदा सतर्क रहना चाहिए और जैसे-तैसे परम्परा के मेल में उन्हें लाना चाहिए। काम की परम्परा अपने यहाँ क्या है, इसको स्पष्ट कर लेना चाहिए कबीरदास का कहना है—

> काम मिलावे राम को, जो कोइ जाने भेद।
> कबीर विचारा क्या करै, जो कहि गये सुकदेव ॥

…ी ने श्रीमद्भागवत में गोपियों की जार-बुद्धि से कांत उपा-
…न किया है और उसका जो साहित्य हिन्दी में बना है
… किसको नहीं है ! 'काम' से 'राम' की प्राप्ति कैसे होती है,
…से सीख ले। 'सूरसागर' में इसी का तो लीलागान है !
…तुलसीदास जैसे मर्यादावादी पुरुष का भी यहाँ कुछ कहना
…ही कि—

…ममोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह।
…तपिता विरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह॥
२१४ ॥ विनय०

…ह कि 'काम' का जैसा विचार भारतीय वाङ्मय में हुआ है
…रूप में नहीं। फ्रायड को चिकित्सा में निदान की सूझी तो
…अतृप्त वासना का परिणाम कहा और उसकी पूर्ति को ही साधु
…र तो इस वासना पर उसकी ऐसी दृष्टि जमी कि कभी इससे दूर
…'स्वप्न' तक जा पहुँची। फ्रायड, एडलर और युँग की त्रयी ने
…जो कुछ किया उसका सहसा प्रचार हो जाने के कारण यहाँ भी
…र बढ़ी और कविता में कुछ उसकी भी फूँक लगी। कथा-वार्ता
…का प्रभाव गोचर हुआ परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है
…भारती में इसकी भी एक स्वतन्त्र परम्परा है, और है इसका भी
…न सम्प्रदाय।

जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के;
आने दो कितनी आती हैं
बाधाएँ दम संयम बन के॥
—कामायनी

…प्रकार—दम और संयम के प्रति जो उपेक्षा समाज में फैल रही है
…रता किधर ले जा रही है, इसका इतना निर्देश करने के उपरान्त

की चिन्ता न तो 'फ्रायड' को हुई और न 'मार्क्स' को। फ्रायड
को अपना विषय बनाया और मार्क्स ने 'अहार' को। फिर यहाँ
धि या संस्कृति से उनका मेल कैसे हो ? फ्रायड और मार्क्स
हते रहें, पर सब की अनुभूत बात यह है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

—मनुस्मृति।

वा तुलसी की वाणी में—

अब नाथहिं अनुरागु,
जागु जड़, त्यागु दुरासा जी तें।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी
कहुँ विषय भोग बहु घी तें॥ ११८॥

—वही।

कला और रस—मन संन्यास नहीं ले पाता और काम, क्रोधादि
ों से जीव की मुक्ति नहीं हो पाती तो उद्धार का कोई उपाय तो होना
ए। तुलसी 'रामभजन' को ही एकमात्र साधन ठहराते हैं। पर किस
में ? काव्य के रूप में ही न ? और क्यों ? सीधी सी बात तो यह है
साहित्य ही वह क्षेत्र है जहाँ काम, क्रोध, लोभ, मद आदि भी सुखदायी
जाते हैं। यहाँ तक कि, 'शोक' भी 'श्लोक' बन जाता है। सो कैसे ?
जा सकता है कि 'कला' के प्रसाद और 'रस' के उद्रेक से। ठीक है।
कला और रस हैं क्या जो उनसे इतना बड़ा चमत्कार हो जाता है जो
सी से नहीं हो पाता ?

सो 'अग्निपुराण' में कहा गया है—

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥ १॥

आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥ ३८ ॥

इस प्रकार आस्तिक लोग तो रस का सम्बन्ध ब्रह्म से जोड़ते हैं पर नास्तिक के लिए तो इसका कोई महत्त्व नहीं। परन्तु नहीं, 'आनन्द' को वह भी मानता ही है और मानता है 'चैतन्यचमत्कार' को भी। 'रस' की एक दूसरी व्याख्या भी है। 'मानसोल्लासकारिका' में 'बुद्धि' के प्रकरण में कहा गया है—"बुद्धेश्चित्तस्वरूपस्य सत्त्वोद्रेको रसो मतः।" सत्त्वोद्रेक को ही रस कहा गया है। रस को काम कहा गया है—

"विभावानुभावव्यभिचारिभावैर्मनो-
विभ्रमः क्रियते स रसः।"

'हंसविलास' में साथ ही एक दूसरी परिभाषा भी है—

विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभिरुपचीयमानः
स्थायिभावः परिपूर्णो रस्यमानो रसः ॥ उल्लास ४४

रस की निष्पत्ति—'रस' के प्रकरण में जिन भावों का उल्लेख किया जाता है सब का नाम यहाँ आ गया है परन्तु सामान्यतः रस की निष्पत्ति में "विभावानुभावसञ्चारी" का ही निर्देश किया जाता है और इन्हीं के संयोग से स्थायिभाव रस को प्राप्त होता है। रस की निष्पत्ति के विषय में बराबर विवाद रहा है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'रस' और यूरपीय साहित्यशास्त्र में 'कला' की धूम रही है। आज दोनों को लेकर हिन्दी समालोचना असमञ्जस में पड़ गयी है। उधर से मार्क्सवाद की चढ़ाई भी हो गई है। उसे यहाँ भी क्रान्ति की ही सूझ रही है, अतः कुछ इधर भी ध्यान देना चाहिये। विचार के लिए उसी 'मा निषाद' को लीजिए। इस "श्लोक" से कवि वाल्मीकि को शान्ति नहीं मिली। उनको तो ग्लानि सी हो गई। किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनके शिष्य ने उसे ग्रहण कर लिया तब संतुष्ट हो गये। इससे इतना तो प्रकट हो गया कि काव्य का सच्चा आनन्द कवि को नहीं, सामाजिक को प्राप्त होता है, और कवि को उस आनन्द का

न्द सामाजिक के रूप में प्राप्त होता है। परन्तु इतना भी प्रत्यक्ष ही है यदि शिष्य वाल्मीकि के पक्ष का न होकर 'निषाद' के पक्ष का कोई होता तो इस शाप को इस रूप में ग्रहण नहीं कर पाता। कारण यह मुनि के साथ उसका तादात्म्य नहीं हो पाता। अर्थात् सामाजिक का आश्रय के भाव से भिन्न रहता और रस की बात बिगड़ जाती।

यह तो रही स्थायिभाव क स्थिति जो शिष्य को सहृदय और मुनि को कर सकी। इसके अतिरिक्त विभाव को लीजिए। यहाँ भी दोहरा विधान। 'मा निषाद' में 'निषाद' ही आलम्बन है और क्रोध ही स्थायी। किन्तु य ही क्रौंची का रुदन भी है जो मुनि के हृदय मे करुणा को जगाता और क्रौञ्च के प्रति शोक उत्पन्न कर देता है। इससे पूरा प्रसङ्ग रौद्र का द्रेक न कर करुण रस का ही आस्वाद कराता है। प्रश्न उठता है कि 'शाप' के समय यह 'शोक' कहाँ रहा? निवेदन है उसी अन्तस्तल वा अन्तःसंज्ञा में जिसका प्रतिपादन फ्रायड ने किया है। हाँ, एक बात और; यहाँ मुनि को अधर्म दिखाई दिया, कुछ अनर्थ नहीं। निषाद ने अर्थदृष्टि से ही यह कार्य किया हो तो? कौन जाने भूख की ताड़ना से ही उसने ऐसा किया हो। नहीं तो रतिक्रीड़ा से उसे इतना द्वेष क्या था जो काम-मोहित क्रौञ्च को बध दिया। है न अर्थ की दृष्टि से विचार करने के लिए अच्छी सामग्री? और क्रौञ्च भी सामान्य क्रौञ्च नहीं है। यदि सामान्य ही होता तो क्या होता, इसे कौन कहे? पर समझ में यही आता है कि ऐसा 'शाप' और ऐसा 'श्लोक' कदापि न बनता। फिर सामान्य की इतनी पुकार क्यों?

सामाजिक—रस की स्थिति को ठीक-ठीक समझने के लिए 'सामाजिक' को समझ लेना परमावश्यक क्या अनिवार्य है कारण कि उसमें वासना ही नहीं, भावना ही नहीं, संस्कार भी होता है। और वासना के अतिरिक्त और कुछ मानव में सार्वभौम नहीं। भावना अपनी होती है, संस्कार अपना होता है, वासना सब की होती है—'सहृदय' की भी और 'समाज' की भी। इस प्रकार वेदना सभी में होती है पर 'कल्पना' और 'अनुभूति' अलग। अलग

देती हैं। मानव उनको कमाता है कुछ प्रकृति से पाता नहीं। अस्तु, इन सभी के समाहार, समन्वय और सामञ्जस्य से जो व्यवस्था बन जाती है वही धर्म कहलाती है जो मनुष्य को मनमाना करने नहीं देती।

विभावन—रस की दृष्टि से देखने से यह भी प्रगट हो जाता है कि काव्य में विभावन ही मुख्य है और है यही कवि या कलाकार की सच्ची कसौटी भी। स्थायी, सञ्चारी, अनुभाव आदि तो मानवमात्र में समान होते हैं। उनमें कुछ विशेष अन्तर नहीं पड़ता। उन्हें चाहे प्रकृति की देन समझें, चाहे पुरुष की छाया, हैं सर्वत्र एक ही; और सर्वकाल में भी। चाहे तो उन्हें देश-काल से मुक्त भी कह लें; परन्तु विभाव में यह बात नहीं होती। आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही मानव की वासना ही नहीं भावना और संस्कार के साथ चलते हैं और फलतः देश, काल तथा समाज से बद्ध हो जाते हैं। विभावन व्यापार की इसी से इतनी महत्ता है। और हमारा तो कहना यह है कि यह विभावन ही कला है। इसी में कवि, कलाकार या साहित्यकार परखा जाता है। रस का सम्बन्ध सहृदय सामाजिक से है। सामाजिक के हृदय में भी वही भाव द्वन्द्व है जो कवि के हृदय में, परन्तु यदि दोनों की रीति-नीति, आचार-विचार, रीझ-खीझ एक न हुई तो दोनों की निभ नहीं सकती और कवि की करनी उसे भा नहीं सकती। कवि अपने काव्य में सदा आश्रय के रूप में रहता है और आश्रय में ही वह मत रहता है जो विभावन व्यापार के द्वारा सामाजिक में उत्पन्न होकर अनुभावन और सञ्चारण से रस दशा को प्राप्त होता है। इसी से तो सबसे प्रमुख काव्य में होता है आलम्बन। आलम्बन की सच्ची परख जिस कलाकार को हो गई — जो यहाँ तक उसने आधा मैदान मार लिया।

— है कि—

ग नारी के नग्न रूप के ही रसिक हैं उनको भी कदाचित ऐसी
ोनी जो भाँति-भाँति के अलङ्करणों और प्रसाधनों से सुसज्जित तो
वस्त्रहीन। वस्त्र पर ही जैसे प्रथम दृष्टि पड़ती है वैसे ही वस्तु,
या आलम्बन पर भी।

त् राम ने भगवान और भूप का रूप भुला कर प्राकृत जन के
ी चरित किया, जिससे प्राकृत जन भी उसको अपना ले।

म्बन के पुण्यचरित्र की प्रतिष्ठा काव्य में सदा से चली आई है,
र कुछ दिनों से कुछ उलटी हवा चली है जो क्रम को उलट देना
। 'मेघनाद' की रचना इसी पुण्य प्रेरणा से बँगला में माइकेल
जी द्वारा हुई। उनकी वृत्ति बदली तो नायक भी बदल गया।
क नायक बना। परन्तु मेघनाद भी तो अपने समाज में पुण्यचरित्र
फिर आलम्बन की पुण्यचरित्रता में व्याघात क्या? किन्तु इधर
' की आँधी आ गई है और लोग समझने लगे हैं कि जिस पर
न बनी वह उपेक्षित गया। हो सकता है। पर ध्यान दीजिये तो पता
सभी अपने क्षेत्र के, पुण्यचरित्र को न सही, प्रतीक या महान को
रहे हैं। चाहे वह घसियारिन हो चाहे पत्थरतोड़िन, पर है वह अपने
शिष्ट ही। आज की अपेक्षा कल की बात समझ में अच्छी आती
बहुत कुछ और खोजने में भी समर्थ होती है। अस्तु, बिहारीलाल
दोहे यहाँ दिये जाते हैं जो कदाचित आज की प्रगति की पगडंडी
दूर तक चल सकें—

> पहुला हार हियैं लसैं, सन की बेंदी भाल।
> राखति खेत खरे खरे खरे-उरोजनु बाल॥ २४८॥
> गोरी गदकारी परैं, हँसत कपोलनु गाड़।
> कैसी लसति गँवारि यह, सुनकिरवा की आड़॥ ७०८॥
> नाहिं, विविध बिलास तजि, बसी गँवैलिनु माहिं।
> मूरने मैं गनी कि तूँ हूठ्यौ दे इठलाहिं॥ ५०६॥

ज्यों कर, [illegible] कातनिहार ॥ [illegible]

छबि सों गति सी ले चलति, चातुर कातनिहार ॥

ओठु उँचै, हाँसी भरी, दग भौंहनु की चाल।

मो मन कहा न पी लियौ, पियत तमाकू, लाल ॥ ६१४ ॥

इन दोहों की नायिकाओं की रूप-रेखा, सज-धज, प्रसाधन और हाव-भाव आदि पर ध्यान दीजिए तो विदित हो कि सभी अपने क्षेत्र में प्रवीण है। इसी से तो हमारा कहना है कि शोभन और शालीन को छोड़कर काव्य चल नहीं सकता। हाँ, यह बात और है कि रुचि के साथ शोभन और शालीन भी बदलता रहता है। उसकी मर्यादा प्रगति के हाथ में है नियति के हाथ में नहीं।

परन्तु उदरभरी शिक्षा तो पश्चिम की मिली, कविता भी वहीं से सीखी, साहित्य भी वहीं का पढ़ा, और सिद्धान्त भी वहीं का लिया, हाँ, रोटी के लिए यहाँ रह गए और रह गये 'मुफ्त-खोरी' के लिये। फिर 'निर्बल के बल राम' का महत्त्व क्या समझें। पता है। यह वही राम है जो राजकुमार था पर रङ्क बना, कोल-किरातों से मिला, नरवानरों तथा भालुओं को सेना और गढ़ तोड़ दिया उस रावण का जिसकी नगरी सुवर्ण की बनी थी, जिसके पास पुष्पक विमान था, जिसकी माया अपार थी, और जो स्वयं समुद्र की खाई में रहता था। आप ही का तो यह भी कहना है—

एक नदी की आवश्यकता

आशा वाले,

जादू वाली माया वाले,

जो आए और तुम्हें बताए

इच्छा में छिप के बैठाए

तुम मनुष्य हो

हाँ, मनुष्य की तुम में कला,

जो मनुष्य ने किया

मनुष्य उसे कर सकता।

क्या कहा ! 'जो मनुष्य ने किया मनुष्य उसे कर सकता !' मारिष !
! मनुष्य तो वह कर सकता है जो मनुष्य ने अभी तक नहीं किया
र करता जा रहा है। कुछ आँख खोल कर देखो भी तो नची आ कर
। करेगा ! जनता को क्या पाठ पढ़ाये, कुछ इसका भी पता है ! 'तुम
प्य हो' बस ! यहीं तक पहुँच है ! स्मरण रहे, यहाँ के मनुष्य ने ही
ाँ के मनुष्य को बताया और आज से बहुत पहले ही कि मनुष्य वह कर
कता है जो देवता भी नहीं कर पाता। कभी बताने और दिल में जमाने
। नहीं, हाथ बढ़ा कर अपनाने और दृष्टि फैला कर उस पर आचरण
रने की है। सन् ४२ की क्रान्ति में जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो
प अवसि नरक अधिकारी' ने अत्याचारियों में जो सनसनी पैदा की वह
ातिवाद की पोथियों ने नहीं। जिसे 'सुरुआ-बोटी' की चाट लगी है उसे
अवश्य ही दूसरा घर देखना चाहिए। यहाँ का राम 'सुरुआ-बोटी' का राम
नहीं, दूध-भात या माखन-रोटी का राम है। इस राम को जाने बिना इस
देश में कुछ करतब दिखाना मड़ौआ हो सकता है काव्य नहीं। यहाँ की
कसौटी तो सर्वहित ही है। तुलसी ने कितना ठीक कहा है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

एक दूसरी रचना लें। इसमें मार्क्स नहीं फ्रायड की प्रेरणा है, और
इसी कारण कुछ से कुछ और ही बन गई है। लीजिए—

'रविरोप अभी बाकी है'
'मिलनोचित समय नहीं है'
'नीलाम्बर व्यस्त हुआ है'
'भूरण लड़ियाँ बिखरी हैं'
कब सोचा यह सब निशि ने !
सब उसकी ही ज्वाला का
आह्वान किया प्रकृति ने !

अन्तिम चरण ही कवि का इष्ट है और है वही सबसे निकृष्ट। काव्य रति-पुकार का पक्षपात है। कामातुर में लज्जा नहीं होती, काम से प्राणी न्धा हो जाता है, प्रकृति अवश्य अपना काम करा लेती है, आदि अत्यन्त चलित, परिचित और प्रसिद्ध हैं, परन्तु उसकी 'स्त्री-आत्मा का आह्वान' ग है! आत्मा को कवि ने क्या समझ लिया है! इससे कहीं अच्छा ता—

जब उसकी स्त्री प्रकृति का आह्वान किया पुरुष ने।

प्रकृति और पुरुष, नर और नारी का खिंचाव अपने आप ही होता रहता है और कभी-कभी ऐसा अवसर आ जाता है कि किसी भिखारी को 'रक न॰ ॰ ह की न' कहना पड़ता है और किसी तुलसी को 'नहिं मानव तेउ अनुजा तनुजा।' किन्तु जिसे 'आत्मा' का पता है वह तो इस स्त्री-आत्मा' को देख कर मुँह फेर लेगा, और कहेगा—स्त्री-आत्मा! सका अर्थ!

समीक्षा की बहक—काव्य तक ही यह बात रह जाती तो कोई बात नी थी। समीक्षा के क्षेत्र में भी ऐसी ही हाँकी जा रही है। कहते हैं—

"काव्य-कला के बारे में आपने वाल्मीकि की कथा सुनी है—क्रौञ्च-वध से फूटे हुए कविता के अजस्र निर्झर की बात अवश्य जानते हैं। वह कहानी सुन्दर है, और उसके द्वारा कविता के स्वभाव की ओर जो संकेत होता है—कि कविता मानव की आत्मा के आर्त्त-चीत्कार का सार्थक रूप है—उसकी कई व्याख्याएँ की जा सकती हैं और की गई हैं। लेकिन हम उसे सुन्दर कल्पना से अधिक कुछ नहीं मानते। बल्कि हम कहेंगे कि हम इससे अधिक कुछ मानना चाहते ही नहीं। क्योंकि हम नहीं मानते कि कविता ने प्रगट होने के लिए इतनी देर लम्बी प्रतीक्षा की! वाल्मीकि का, रामचन्द्र काल, और अयोध्या जैसी नगरी का काल, भारतीय संस्कृति के चरमोत्कर्ष का काल चाहे न भी रहा हो, यह स्पष्ट है कि संस्कृति की एक पर्याप्त विकसित अवस्था का काल था, और हम यह नहीं मान सकते—नहीं मानना चाहते

मौलिक ललित कलाओं में से कोई एक भी ऐसी थी जो इतने समय तक : हुए बिना ही रह गई थी।

"अतएव हम जिस अवस्था की कल्पना करना चाहते हैं, वह बाल्मीकि बहुत पहले की अवस्था है। वैज्ञानिक मुहावरे की शरण लेकर कहें कि वह रिक सभ्यता से पहले की अवस्था होनी चाहिए, वह लेतिहर सभ्यता से र चरवाहा (Nomadic) सभ्यता से भी पहले की अवस्था होनी हिए—वह अवस्था जब मानव कगारों में कन्दराएँ खोद कर रहता था, र घासपात या कभी पत्थर या ताँबे के फरसों से आखेट करके माँस ता था।" (त्रिशंकु, पृ० २३-२४)

निबन्ध का शीर्षक है—'कला का स्वभाव और उद्देश्य' और उसका य है—

"कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमा-णित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।"

'कला प्रयत्न है', 'कला विद्रोह है' तो हो, पर बाल्मीकि के विषय में तना कहे जाने की आवश्यकता क्या? किसने और क्या कहा जा रहा है और क्यों? आदि काव्य बाल्मीकि-रामायण ही क्यों कहा जाता है, जानना यह है और हो सके तो बताना यह कि इसके पहले अमुक काव्य था। कोरी कविता नहीं काव्य—पूरा काव्य—श्लोकबद्ध। क्योंकि 'शोक' 'श्लोक' बना न! और इससे पहले भी दिखाना यह था कि जो लोग काव्य का उदय बाल्मीकि से समझते हैं वे काव्य को 'कला' समझते हैं और उनकी दृष्टि में काव्य और कला में कोई भेद नहीं। समझ की बात तो यह थी कि इसमें काव्य-स्वरूप का साक्षात्कार किया जाता और उसकी प्रकृति तथा व्याप्ति पर विचार किया जाता।

दुःख की अनुभूति—कला के विषय में कहा गया है कि वह विभावन व्यापार में है। उसके बारे में विपक्षी की जो सूझ-बूझ रही है उसका निदर्शन भी कर दिया गया। हमारी समझ में तो कला 'प्रयत्न' और 'विद्रोह' नहीं,

ञ्जन और शोभन है। अञ्जन का रोटी से लगाव है तो शोभन का नारी
। अतएव आशा की जाती है कि यह बात मार्क्सवादी को भी प्रिय होगी
र उसको इसमें अपने मन का भाव दिखाई देगा। रही कला के जन्म
बात। सो हमारी दृष्टि में यह आता है कि कला का उदय उसी क्षण हो
। जिस क्षण माता ने धूलधूसरित निजके शिशु को अंक में लिया और
के मुखमण्डल को पोंछ कर उसके केशों को सँवार दिया और फिर
को चूम लिया। और यदि माता का प्रसङ्ग न रुचे तो नर-नारी को ही
लें और उन्हीं के ऐसे व्यापार में कला का साक्षात्कार करें। प्रसङ्गवश
ला के जन्म के सम्बन्ध में इतना कह दिया गया, अब आगे के प्रसङ्ग पर
ान दें और दुःख की अनुभूति को समझें। गौतम अपने पथ पर चले
रहे हैं, देखते क्या हैं कि—

झुंड मारी भेड़ छेरिन को रह्यो है आय,
ठमकि पाछे दूब पै कोउ देति मुखै चलाय।
जिते झलकत नीर, गुलरलसी लटकति हार,
लपकि ताकी ओर धावैं छाँड़ि पथ द्वै चार।
जिन्हें बहकत लखि गड़रियो उठत है चिल्लाय.
लकुट सों निज हाँकि पथ पै फेरि लावत जाय।
लखी प्रभु इक भेड़ आवति युगल बच्चन संग,
एक जिनमें है रह्यो है चोट सों अति तंग।
छूटि पीछे जात, रहि रहि चलत है लँगरात,
थके नन्हें पाँव सों है रक्त बहत चुचात।
ठमकि हेरति ताहि फिरि फिरि तासु जननि अधीर,
बढ़त आगे बनत है नाहिं देखि शिशु की पीर।
देखि यह प्रभु लियो बढ़ि लँगरात पसुहि उठाय,
लादि लीनो कंध पै निज करन सों सहराय।
कहत मों हे उर्णदायिनि जननि! जनि बररात,
देत हौं पहुँचाय याको जहाँ लौं न जाय।

दुःख को इक पीर हरिबो गुनत हौं मैं आज,
योग औ तपसाधना सों अधिक शुभ को काज।

—बुद्धचरित

दना से मुक्ति भी तो रस ही है ! रेचन से शान्ति मिलती है। यही
की महिमा और कला की देन है। उर्सदान का प्रसङ्ग आ ही गया
त्र मार्क्स की भी सुन लें। गौतम बुद्ध की भाँति आप भी ईश्वर को
मानते; परन्तु एक बात में हैं सर्वथा उनके प्रतिकूल। उनका पक्ष था—
अभावात्सुखमिति'। इनका पक्ष है—'सुखाभावो दुःखमिति'। उनको
में चारों ओर दुःख दिखाई देता था, इसलिए बेचारे गड़रिये पर
नहीं पड़े और उसके प्रतिकूल भेड़ों का आन्दोलन खड़ा नहीं किया।
किया यह कि पीड़ित बच्चे को उठा कर उसके घर तक पहुँचा दिया।
बात और, भेड़ों में सङ्घबुद्धि बहुत प्रबल है। मानव ने उसे भेड़ियाधँसान
रूप में सुरक्षित रख छोड़ा है। परन्तु उनमें भी कुछ हरियाली की ओर
कने वाली होती हैं, और लपकती हैं समाज को छोड़ कर। उनका बहक
अद्भुत नहीं। पशु में भी प्रकृति की भिन्नता होती ही है। बहके हुए
को जिस लाठी से हाँकना पड़ता है वह है सब के लिये, पर सभी
हाँके नहीं जाते। प्रवाह-पतित मानव की भी यही दशा है। उसमें
पीड़ित है उसका उद्धार करुणा के हाथ है, द्वेष के हाथ नहीं। परन्तु
की बात यह है कि आज पीड़ितों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि
निरी करुणा से काम नहीं चल सकता। अब तो फिर उसी वानर के
वाहे की बात होनी चाहिए जिसने वानर और भालू की सेना से धनकुबेर
लूटने वाले को ध्वस्त किया था और लङ्का में वहीं के वासी का राज्य
दिया था। रामराज्य की स्थापना राम के राज्य में होनी ही चाहिए।
ण के राज्य में न सही। पर यह शासन की बात ठहरी। इसकी आव-
कता भी थी इसलिए इतना कह दिया।

उर्दू का देशकाल—अस्तु, देखिए अब यह कि इसी विभाजन के
य हिन्दी के उस अङ्ग की दशा क्या है जिसे उर्दू कहते हैं। देशकाल

के प्रभाव से यहाँ कला का क्या स्वरूप हुआ और ...
प्रकार 'अमरद' का इसकी चर्चा फिर कभी होगी। यहाँ कहना है ...
फारसी कविता में लैला-मजनू ही नहीं अयाज़-महमूद की भी जोड़ी है ...
उर्दू को अपनी संस्कृति के कारण इसमें कोई दोष नहीं दिखाई देता, या...
तक कि उर्दू के एक अजाना पण्डित उर्दू को हिन्दी सिद्ध करने के लि...
इसका एक अजीब उदाहरण भी धर देते हैं :—

> ख़त निकले प बोसये रुख़े पुरनूर का पाया।
>
> हैरत दरहमन को निली चाँद गहन से॥

शेर शेख हातिम का है। आप 'उर्दू की ज़बान' के आदि उ...
और हिन्दी भाषा को त्यागने वाले प्रथम वीर हैं। आप किसी दाढ़ी ...
लते हुये माशूक़ का चुम्बन क्या करते हैं चन्द्रग्रहण में ब्राह्मण का दान ...
जाते हैं। परन्तु ब्राह्मण की स्थिति यह है कि न तो उसका यार कोई ...
मल 'अमरद' होता है और न वह चन्द्रग्रहण का दान ही लेता ...
हो सकता है, शाह हातिम ने हिन्दू हित से ऐसा किया हो, पर क्या ...
इसका प्रचार करेंगे ! और आपकी नारी इसको सह सकेगी ! आप...
इसको भी कहीं दिखा देगा; पर क्या आपका समाज इसका हो ...
उर्दू के लोग तो इसे 'एशियाई शाइरी' का गुण बताते हैं पर है यह ...
में फारसी और उर्दू की थाती। उर्दू की दृष्टि में यही 'एशिया' है तो ...
संसार की दृष्टि में तो एशिया के अपार जन-समूह में ऐसे गुणी बहुत ...
और फारसी बोलने वाले भी कितने ! रही उर्दू की बात, सो उसकी ...
निराली है। मुँह से वह सबकी है पर दिल से इसलाम की, और ...
ईरान की। तभी तो उसके दूसरे उस्ताद 'सौदा' कहते हैं—

> गर हो कशिशे शाहे खुरासान तो 'सौदा'
>
> सिजदा न करूँ हिन्द की नापाक ज़मीं पर।

अर्थात् यदि खुरासान का शहंशाह चाहे तो मैं हिन्द की अप...
नमाज भी न पढ़ूँ। चाहा, खुरासान के बादशाह ने नहीं,

शाह ने और फलतः बन गया सिजदा के लिए यहाँ 'पाकिस्तान' भी। बन गया, इसे उर्दू के अदब से पूछ देखें और शब्द-ब्रह्म की शक्ति पहिचानें।

'आजकल हिन्दुओं के दो पोलिटिकल गिरोह मौजूद हैं। आप उनमें से न के साथ हैं? गुजारिश है कि हम किसी के साथ नहीं बल्कि सिर्फ़ दा के साथ हैं। इस्लाम इससे बहुत अरफा व आला है कि उसके पैरोवों को अपनी पोलिटिकल पालिसी कायम करने के लिये हिन्दुओं की पैरवी करनी पड़े। मुसलमानों के लिये इससे बढ़कर कोई शरमअंगेज सवाल नहीं हो सकता कि दूसरों की पोलिटिकल तालीमों के आगे झुककर अपना रास्ता पैदा करें।'

कर्त्तव्य—साहित्य के सभी क्षेत्रों का लेखा लेना अपना काम नहीं। साहित्य समृद्ध हो और शीघ्र ही हिन्दी साहित्य सभी प्रकार से राष्ट्र साहित्य बने इसी की लालसा है और इसी से यहाँ ऐसी मीमांसा भी की गई। अब अति संक्षेप में कह यह देना है कि वास्तव में हम चाहते क्या हैं। हमारी शक्ति क्या है, इसका हमें पता नहीं, और यदि हो भी तो हम बताना नहीं चाहते। हम तो काम करना चाहते हैं। कालचक्र के प्रभाव से देश में जो परिवर्तन हुए और हो रहे हैं उनसे हमारा दायित्व बढ़ गया है। हम रङ्क ही सही, पर हमारे साहित्य को कामधेनु बनना है। कल्प तरु भले ही न हो और न हो चिन्तामणि भी पर हमारे साहित्य को कल्प तरु बनना है और बनना है चिन्तामणि भी। इस॰ दो रूप हैं शास्त्र और साहित्य। शास्त्र का कार्य तो सभी देश भाषाओं के योग से होगा। 'साहित्य सम्मेलन' की स्थापना हो भी गई। विश्वास है कि अब इसमें किसी उर्दू, हिन्दुस्तानी या हिन्दी-हिन्दुस्तानी का कोई स्थान न होगा और नागपुर का पलड़ा फिर न पलटा जायगा और आशा है कि उसके द्वारा सांकेतिक कोशों और सभी प्रकार के शास्त्रीय उप-ग्रन्थों का प्रणयन शीघ्र होगा। रही हिन्दी साहित्य की चिन्ता, सो उसके विषय में अपना मत है एक 'साहित्य संसद' को फलता-फूलता देखना। शीघ्र ही कोई ऐसी संस्था, नाम जो कुछ सन्दर्भ रख लें, व्यवहार में अपनी

ु 'हरहिं शिष्य धन शोक न हरहीं" को चरितार्थ करना नहीं।
त शोषण पाठ्य विधाता भी कर रहे हैं जिस पर लोगों का
कम गया है। हम इस नीति को अच्छा और उपयोगी नहीं
जिसका संग्रह वही पाठक और वही प्रश्नकर्त्ता और वही परीक्षक
(सब कुछ उसी के हाथ में। इस नीति रीति या मोह का दुष्प-
ट है। विद्यार्थी के पल्ले बहुत थोड़ा पड़ता है और वह हिन्दी को
आदर की दृष्टि से नहीं देखता। बस करने को इतना ही बहुत है,
ति कहाँ! एक बात और, उर्दू के विषय में पहले जो कुछ कहा
का यह अर्थ नहीं कि उसमें हिन्द का कुछ है ही नहीं। उसमें
न्दी है उसको नागरी रूप में शीघ्र अपना लेना चाहिए। 'नज़ीर'
ति' का उल्लेख ही पर्याप्त है।

। मैं कहना यही है कि छोटे मुँह बड़ी बात अथवा बड़े मुँह छोटी
अभिनय हो चुका। अब केवल एक कामना शेष रही। और वह यह—
भी हँह गरे परे, फूटेहूँ बिलोचन पीर होति, हित करिये। —तुलसी

'यशोदा बार बार यों भाखै',
है कोउ ब्रज में हितू हमारो, चलत गुपालहिं राखै'

किन्तु विकलता और दौड़-भाग का कोई भी परिणाम नहीं निकला। मथुरा चले ही गए, और गोपियों को अत्यन्त विरह दे गये। ब्रज ता ही नहीं कर गये उजाड़ गये। आलोचकों का कहना है कि गोपियों ब्रजवासियों का यह दीर्घ विरह-उत्ताप अस्वाभाविक है। कृष्ण गोकुल आये तो गोपियाँ मथुरा जा सकती थीं। कितनी उपहासास्पद युक्ति है, त गोकुल मथुरा पर आक्रमण करदे। वहाँ क्या कृष्ण को वे उसी रूप पा सकते थे जिसमें उन्होंने गोकुल में पाया था—नहीं, प्रेम कितना अन्धा अथवा पागल क्यों न हो, वह अपनी प्रतिष्ठा नहीं गँवा सकता। र प्रेम का सबसे दृढ़ आधार है, वही प्रेम को उच्छृंखल होने से बचाता है। पियाँ मथुरा नहीं जा सकती थीं, यही कारण है कि गोपियों के विरह की वता और उग्रता को समझते हुए भी कृष्ण ने कभी यह सन्देश गोपियों पास नहीं भिजवाया कि वे मथुरा आ जायें।

प्रेम से अधिक संवेदनशील कोई दूसरा भाव होता ही नहीं। वह मी की पीठ फिरना भी सहन नहीं कर सकता, स्थानान्तर तो बहुत भारी बात है।

तो सूर के विरह-वर्णन में हमें तीन प्रकार के पात्र मिलते हैं। एक हैं माता-पिता, दूसरी हैं गोपियाँ, तीसरी हैं राधा। माता-पिता का विरह वात्सल्य-विरह है।

अक्रूर जिस समय से कृष्ण को मथुरा ले जाने की बात कहते हैं उसी समय से यशोदा की विकलता अत्यन्त-तीव्र है—वह पहले तो अक्रूरजी को ही समझाती है:—

१-"मथुरा करै मुनहु सुफलकसुत
मैं पयपान जतन करि पारे।

मोहन नेंक बदन तन हेरो।
राखो मोहि नात जननी को
मदन गुपाल लाल मुख हेरो।
पाछे चढ़ो बिमान मनोहर,
बहुरो, यदुपति, होत अँधेरो।
बिछुरत भैंट देहु टाढ़े है,
निरखो घोष जनम को खेरो।

माता के ध्वस्त हृदय की पीड़ा इन व्यवहारिक शब्दों के पीछे झाँक रही है। यशोदा जिस मातृत्व गर्व में फूली नहीं समाती थी, उसी मातृत्व गर्व की समाधि स्वयं यशोदा ही बन गयी। यह दैवदुर्विपाक नहीं तो और क्या है—क्या यह स्वर उसी यशोदा का है जो कभी कहती थी :

"सूरदास मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत"

हा ! उस भोली यशोदा को क्या पता था कि किसी दिन भग्न हृदय से उसे यह सन्देशा भी भिजवाना पड़ेगा—

सदेशो देवकी सौं कहियो।
हौं तौ धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियौ ॥

किन्तु गोपियों के प्रेम की अवस्था कुछ और है। उनके प्रेम में कृष्ण का समस्त रूप सामने उभरा हुआ है। उनके भावों की कोई सीमा नहीं। गोपियों के इस विरह की सूर में हमें दो अवस्थाएँ विशेष उग्र मिलती हैं एक प्रतीक्षा की, दूसरी निराशा की। उद्धव के ब्रज आगमन से पूर्व तक की अवस्था प्रतीक्षा के विरह की अवस्था है। उसके बाद की निराश-विरह की।

कृष्ण के जाने से ब्रज की क्या अवस्था होगयी थी, उसका परिचय उद्धव ने लौट कर कृष्ण को दिया था—

'कहँ लौं कहिए ब्रज की बात।
सुनहु स्याम ! तुम बिनु उन
लोगन जैसे दिवस बिहात

...त तुम कत रहत हरे।
...वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।

...वे स्मरण करती हैं—

...न धेनु बजावत द्रुमतर सारता टेकि खरे।
...वासर अरु जड़ जङ्गम मुनि मन ध्यान टरे।
...चितवनि तू मन न धरत है फिर फिर पुहुप धरे।

...यों के शरीर में तो यह देख कर नख से शिख तक आग लग
...। एक ओर विरह में शरीर का उत्ताप है दूसरी ओर नेत्रों से
...का झर—तभी तो कहती हैं—

ब्रज तैं द्वै रितु पै न गई
पावस अरु ग्रीषम प्रचण्ड सखि !
हरि बिनु अधिक भई।
अरध स्वाँस समीर, नयन घन, सब जल जोग जुरे।
बरषि जो प्रगट किए दुख दादुर हुते जे दूरि हरे।
विषम वियोग दुसह दिनकर सम दिन प्रति उदय करे।
हरि बिनु बिनुख भये कहि सूरज को तन ताप हरे।

...इन बरमारे नेत्रों से बादल भी परास्त हो उठते हैं। बादल तो समय
...बरसते हैं, पर कृष्ण वियोग में—

बिनु ही रितु बरसत निसि बासर
सदा सजल दोउ तारे।
सुमिरि सुमिरि गरजत अरु
छाँड़त अस्रु सलिल बहु धारे।

वियोग में उनकी विषम स्थिति और भी विडम्बनापूर्ण उस समय हो
जाती है जब कृष्ण की 'पाती' आती है। वे अपने प्यारे के पत्र को पढ़ने
के लिए व्यग्र हो उठती हैं। पर हाय रे! यह पाती भी; विरह की कांती

इस प्रकार प्रतीक्षा में दिन बीत रहे थे, प्रतिदिन आता था कि कृ
आयेंगे—वर्षा ऋतु आयगी। वर्षा में सभी के पति लौटते हैं, उनके
कृष्ण भी लौटेंगे पर नहीं आये—बादलों को उमड़ता देख कर गोपियों
हृदय में एक हूक उठी, उन्होंने कहा—

> बरु ये बदराऊ बरसन आये।
> अपनी अवधि जानि नँद नंदन गरजि गगन घन छाये॥

अरे ये तो अपने समय पर आये हैं। और गरजते हुए डंके की
आये हैं। इन्होंने अपने सभी प्रियजनों को प्रसन्न कर दिया है :

> 'द्रुम किए हरति हरषि वेली,
> मिलि-चातक मृतक जिवाये—'

ये बादल अपने प्रियजनों को सुख देने के लिए बड़ी दूर सुर-लोक
आये हैं—दूसरे के चाकर होते हुये भी समय पर आ गये—पर

> "सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि मधुबन बसि बिसराये"

गोपियों के हृदय टूट रहे हैं। विरह-विषाद की ज्वाला से ब्रज
रहा है। पथिकों ने वह मार्ग छोड़ दिया है। पशु पक्षी भी पलायन
गये हैं। गोपियाँ हैं और उनका ब्रज है—उजाड़, सुनसान, भया
तभी उद्धव 'कृष्ण को जैसी मूषा' में गोपियों को समझाने आते
'निर्गुण और योग का सन्देश सुनाने। इसी से तो गोपियों को शा
हो सकती है। पर उद्धव का सन्देश गोपियों के जले पर नमक छिड़क
। वे यह कल्पना भी नहीं कर सकतीं कि कोई इस विरह में इस
के सन्देश देने की धृष्टता भी कर सकता है। उनके हृदय की तिलमि
की अनुभूति कैसे हो सकती है। वे उद्धव से अत्यन्त मुखर हो उठी
उनकी पीड़ा कटाक्ष-व्यंग-उपहास में परिणत हो उठी है। वे उद्ध
कृष्ण सखा समझ कर उनका बड़ा आदर करती हैं, बड़े संयम से
करने की चेष्टा करती हैं, पर क्या करें विवश होकर कुछ प्रेमोन्माद

अति मलीन वृषभानुकुमारी—
हरि स्रमजल्ल अन्तरतनु भीजे
ता लालचन धुश्रावति सारी।
अध मुख रहति, उरध नहिं चितवति,
ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिकुर, बदन कुम्हिलाने,
ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।
हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई,
इक विरहिन दूजे अलि जारी।
'सूर' स्याम बिनु यों जीवति हैं,
ब्रज बनिता सब स्यामदुलारी।

गोपियों से सम्मानित और निरादत होकर उनके प्रेम की गहराई की वियोगानुभूति से प्रभावित होकर उद्धव अपनी ज्ञान-गरिमा खो बैठे। उद्धव ने कृष्ण को ब्रज लौटने की बात कही। पर ब्रज लौटना कहाँ वे तो मथुरा छोड़ कर द्वारिका चले गये। जो निराश-विरह उद्धव के आगमन से आरम्भ हुआ था उसकी पराकाष्ठा इस संवाद से हुई कि कृष्ण द्वारिका चले गये और भी दूर चले गये, तब गोपियों ने एक दीर्घ निराश-निश्वास छोड़ कर कहा—

बैना भये अनाथ हमारे।
मदन गुपाल यहाँ तें सजनी
सुनियत दूर सिधारे।
वे जलहर हम मीन बापुरी,
कैसे जिवहिं निनारे।
हम चातक-चकोर, स्यामघन,
बदन सुधानिधि प्यारे।
मधुवन बसत आस दरसन की,
जोइ जोइ मग हारे।

'सूर' स्याम प्रभु करि प्रिय ऐसी,
मृतक हुते पुनि

मृतकों को मार कर कृष्ण दूर चले गये। ग, "
विरह की थाती सौंप गये। सूर जैसे महाकवि ने
इस वियोग की प्रत्येक दशा के साथ हृदय की
है। वह नित्र अत्यन्त उत्कृष्ट हुआ है, पर ऐसा
व्यथा घनीभूत होते होते एक स्तर पर पहुँची है,
और कवि के शब्द उसके प्रकट करने के लिए
जब सूर की यह दशा है तो और कौन करे विरह

सेनापति की भक्ति-भावना

निरन्तर भोग-विलास और शृङ्गार-भावना में रत रहने पर ए
देखा जाता ही है जब कि मनुष्य का मन इसके प्रति ग्लानि से भर
और वह इससे बाहर शान्तिमय स्थान खोजता है। सेनापति के भी ऊ
बात चरितार्थ हो जाती है। शृङ्गार के विस्तृत वर्णन के बाद हो
कुछ भक्ति सम्बन्धी कवित्त भी प्राप्त हो जाते हैं। घोर शृङ्गारी कवि
भी मस्त रचना के अन्त में भक्ति के दोहे लिखते देखे जाते हैं। ›

भक्ति चित्त का वह पवित्र भाव है जहाँ आत्म-समर्पण की
प्रधान हो जाती है। भक्त प्रभु के महान् स्वरूप को देखता हुआ श्र
होने लगता है। उसके लोकरञ्जनकारी रूप पर वह मुग्ध हो उ
भारतीय पद्धति में एक ओर तो मस्तिष्क को सन्तुष्ट करने की
विचारावली और दूसरी ओर लोक धर्म का वह विधान जिसके द्वा
का कार्य चलता पाया जाता है। साधारण हिन्दू जनता की शान्ति
ने भी इस ओर विशेष सहृदयता पहुँचाई है। भगवान् एक हैं, श्र
का दुख दूर करने के लिए ही वे समय-समय पर अवतार लेते हैं,
जनता के लिए तो यह सीधी सादी विचारधारा ही सन्तोषजनक है
काल से ही यह प्रवृत्ति चली आने के कारण, धर्म का यह व्यावहा
'सनातन-धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसके अन्तर्गत हिन्दू घा
जाने वाले सभी मतों का समावेश मिलता है। प्रायः इनको श्र
सकना असम्भव सा ही है। किसी के लिए यह निर्धारित करने

कौन मातावलम्बी है कठिन है। आज प्रायः सभी घरों
अष्टमी और शिवरात्रि आदि त्यौहार मनाये जाते हैं।
सेनापति के लिये यह निर्धारित करना कि ये
वाले हैं कठिन है। इन्होंने प्रायः सभी के ऊपर
की है। राम के अनन्य भक्त होते हुए भी
लिखी है और शिव को तो उन्होंने राम-भक्ति
बना दिया है। सेनापति भी तुलसीदासजी का
होते हैं। कभी वे राम के लोकरञ्जनकारी रूप पर
के रूप-माधुर्य पर रीझ उनके गुण गाने लगते
धारण करने वाले शिव की स्तुति करते हैं तो
में उलझे देखे जाते हैं। वैष्णव भक्त कवियों
सेवन, गङ्गा-स्नान आदि विषयों पर आस्था
होते हुए भी यह कहना समीचीन न होगा
रामचरितमानस का कोई विशेष प्रभाव है।
में कथा सम्बद्ध नहीं है और जो कुछ घटनाएँ
मानस से मेल न खाकर बाल्मीकि रामायण
परशुराम के आगमन का वर्णन स्वयंवर
अयोध्या लौटते समय ही कराया गया है।
जहाँ तक राम के नारायणत्व का
की कोटि में आते हैं। इन्होंने रामावतार
किया है परन्तु जहाँ तक प्रभु के
तुलसी की भाँति सौन्दर्यागमना करते
वर्णन उन्होंने विस्तार से किया है।
चित्रण का प्रयत्न कम किया है। राम के
से अधिक प्रभावित हुए हैं और उन्हीं
है। सेनापति की भक्ति-भावना मर्यादि
सभी किन्तु भगवान के दिव्य स्वरूप

। में सच्चा अनुराग था और उसकी अभिव्यक्ति करने में वे पूर्ण रूप से
न भी हुए हैं। जीवन की नश्वरता का ज्ञान होने पर ही सांसारिकों का
विमुख होना सम्भव है। जीवन की क्षणिकता का अनुभव ही उसके
ग का कारण बन जाता है—

> कीनो बालापन बालकेलि में मगन मन,
> लीनो तरुना पै तरुनी के रस तीर को।
> अब तू जरा में परयो मोह पींजरा में परयो,
> पति प्रभु रामैं जो हरैया दुख पीर को॥

संसार की अनित्यता पर क्षुब्ध होकर जब भक्त भगवान के लोकोत्त-
र रूप की ओर देखता है तो उसके हृदय में अपूर्व आशा का संचार
लगता है। सम्पूर्ण संसार उसे उनकी करुणा कादम्बिनी से सिञ्चित
ई पड़ने लगता है और उसे आश्वासन होता है कि सर्व प्रभु उस भक्त
। उसकी भी रक्षा अवश्य करेंगे—

> 'अरि करि अंकुस विदारयो है हिरनाकुस,
> दास को सदा कुमक देत जो हरष है।'

और :—

> 'अति अनियारे चन्द कलाते उज्यारे, सेई,
> मेरे रखवारे नाम्हि प्रभु के नख हैं॥'

सेनापति कहते हैं कि मोक्ष प्राप्ति के लिए कोई तप तप करता है कोई
र्थ सेवन करता है और कोई सांसारिकता से मुँह मोड़ जोगी हो जाता है
किन हम तो सुख की नींद सोते हैं क्योंकि हमारे दुखों का अनुभव हमें
छोड़कर राम को होता है :—

> कोई परलोक सो भीख अति पीतरम,
> तीरथ के तीर करि दी रहत नीर हीं।

लेकिन हम तो :—

धातु खिलादार निरधार प्रतिमा को सार,
सो न करतार तू विचार बैठि गेह रे।

परन्तु यह उसके ऊपर समय का प्रभाव है। उस काल की चलती हुई
में बढ़कर ही वैसा कह गये हैं। क्योंकि राम रसायन के पहले ही
त में भगवान के निर्गुण तथा सगुण रूप को चुपचाप स्वीकार कर
ा है।

शिवजी के भी सेनापति बड़े भक्त थे। जगह जगह तन्मयता के साथ
होंने उनका वर्णन किया है। उनके शीघ्र ही सन्तुष्ट हो जाने वाले स्वभाव
वे मुग्ध हैं:—

सोहति उतङ्ग उतमङ्ग ससि सग गङ्ग,
गौरि अरधङ्ग जो अनङ्ग प्रतिकूल है।
कहाँ भटकत, अटकत क्यों न तासों मन,
जाते आठ सिद्धि नव निद्धि रिद्धि तू लहै।

शङ्कर के रूप गुण पर वे मुग्ध हैं। उनका सामीप्य वे चाहते हैं और
साथ ही साथ:—

"बारानसी जाई, मनिकर्णिका अन्हाई,
मेरो शङ्कर ते राम नाम पढ़िवे को मन है।"

तुलसी की भाँति वे भी शङ्कर से राम नाम ही सीखना चाहते हैं।

गङ्गा वर्णन भी आपने किया है पर वह उसकी प्राकृतिक शोभा से
मोहित होकर ही नहीं वरन् भक्ति भावना से प्रेरित होकर लिखा गया है।
गङ्गा की स्तुति भी इसलिये नहीं की गई कि वह महान् है उसकी महानता
इसी में है कि वह विष्णु के चरणों से निकली है। यदि कोई गङ्गाजल
स्पर्श करता है तो उनके विचार से वह विष्णु के चरणों का स्पर्श करता है।
इसी में उसका माहात्म्य है—

"राम पद संगिनि तरंगिनी है गङ्गा ताते,
याही के पकरे ते पाई राम की पकरिये।"

शिव ने शीश में गङ्गा को धारण कर लिया यह नहीं तो न जाने उनकी क्या दशा हुई होती। कण्ठ में सर्पों की माला, मस्तक पर त्रिलोचन ऐसी ... शिवजी की रक्षा हो सकी है वह सुधा से सहस गुने के ही कारण है।

सेनापति की भक्ति भावना में हृदय की तल्लीनता सधाई है। उनके भक्ति भावना के कवित्त मनोरम तथा हैं। अपनी भक्ति भावना के कारण वे जीवन की उस हैं जहाँ सांसारिक यातनाएँ मनुष्य के लिये ... हृदय शान्त हो जाता है। जहाँ सारा जगत उसके ... होने लगता है और वह स्वयं को एक अपरिच्छिन्न ... देखने लगता है। राम पर सेनापति को पूर्ण ... कलि काल को भी उनसे कुछ कहने का साहस नहीं महत्वपूर्ण तथा उच्च पद उन्हें प्राप्त हो गया है।

खड़ी बोली में गीत

साहित्य में पद्य के विकास के उपरान्त ही गीत रचना होती है। गीतों
मनुष्य के हृदय की अनुभूति निर्बन्ध व्यक्त होती है। इसमें आवश्यक है
वि अन्तः प्रेरणा द्वारा क्रियाशील हो। आनन्द या दुःख भावना जब
त्यधिक प्रबल हो उठती है तो हृदय की सीमा में उसे बाँधा नहीं जा
कता, मात्र वाणी द्वारा स्वतः छलक पड़ते हैं, मर्मान्तक अनुभूति शब्दों के
ाध्यम से अप्रयास व्यक्त होने लगते हैं। यही स्वानुभूत कविता रससिद्ध
ोकर प्रभाव साम्य में सफल होती है। अतः कवि के भावों की सत्यता के
रतिरिक्त व्यक्त करने वाले माध्यम का भी सशक्त होना आवश्यक है। इसी
ारण भाषा के पूर्ण विकास होने पर ही सफल गीतों की रचना सम्भव
ोती है। हिन्दी साहित्य भी इस तथ्य का अपवाद नहीं।

खड़ी बोली में पद्य रचना तो भारतेन्दु युग से ही आरम्भ हो गई थी
र उसमें खड़ी बोली का 'खड़ापन' कर्ण कटु हो गया था। श्रीधर पाठक
के कुछ प्रकृति चित्रण प्रभावपूर्ण हुए पर उनमें कोमलता का अभाव है।
पद्य-रचना, छन्द—अलङ्कारों की सीमा से बद्ध थी, तुक-विराम से कठोर
नियमों से शासित थी और द्विवेदीजी की शुद्ध-दृष्टि गद्य-पद्य दोनों क्षेत्रों में
ही समान रूप से जागरूक थी। फलतः कविगण स्वतन्त्र प्रयत्न नहीं कर
पाए। वे स्वयं संस्कृत वाङ्मय के उपासक थे, हिन्दी कविता प्रायः पद्य
नियमों से ही जकड़ी रही। "माय री माय! साँकरी गरी में मोरे पाँयन में
काँकरी गरति है" सी ब्रजभाषा की कोमलकान्त पदावली व माधुर्य का

अतः उनके गीत भावोद्रेक में सफल हुए हैं जिन्हें तीन श्रेणियों में वि
किया जा सकता है।

१—नाट्य गीत—अपने नाटकों में प्रसाद ने यथेष्ट गीत रखे हैं
पात्रों की पृष्ठभूमि के साथ ही पात्रों की परिस्थिति व चरित्र पर भी प्र
डालते हैं। मनोज्ञता गौण है। अभिनय के उपयुक्त इन गीतों में स
का पूरा ध्यान रखा गया है। लौकिक-पारलौकिक विवेचन का
समावेश है—'न छेड़ना उस अतीत स्मृति के खिंचे हुए बीन-तार कोकि
करुण रागिनी तड़प उठेगी सुना न ऐसी पुकार कोकिल'' या संसृति
सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना''''''आदि में।

२—प्रबन्ध-काव्य—कामायनी है तो प्रबन्ध काव्य पर प्रसा
मुक्तक गीतों का समावेश भी किया है। प्रकृति पर दरिद्र नायिक
आरोप करते हुए वे कहते हैं—

''फटा हुआ था नील वसन क्या ओ यौवन की मतवाली।
देख अकिञ्चन जगत लूटता तेरी छवि भोली भाली॥''

या उनका तारे का सम्बोधन—

''तम के सुन्दरतम रहस्य हे कान्ति किरण रञ्जित तारा।
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल विन्दु भरे नव-रस सारा॥''

में सौन्दर्य, कोमलता के साथ ही रहस्य भावना का संकेत भी है।

''आँसू में छन्द की नवीनता, नया उपमा-विधान, प्रतीक पद्धति
भावों की व्यञ्जना में अत्यन्त सफल रही। 'आँसू' को ही उन्होंने ''
की घनीभूत पीड़ा'' कहा है। वासना का उन्मेष, विस्फोट व कवि का
स्थिति से सामञ्जस्य—यही 'आँसू' के गीतों की रूप रेखा है।

''माना कि रूप सीमा है यौवन में सुन्दर तेरे।
पर एक बार आये थे निस्सीम हृदय में मेरे॥''

में कवि का प्रेम व प्रिय के अतीन सौन्दर्य की सुन्दर झाँकी है। कहीं
को उपालम्भ है, कहीं नैराश्य व्यञ्जना अत्यन्त प्रखर हो उठी है—

"वह मधुप बिंध कर तड़पता है यहीं,
निमय है संसार का रो हृदय रो।
दग्ध चातक तरसता है, विश्व का,
नियम है यह रो अभागे हृदय रो।"

"सतह की चल जल माली" के साथ ही वे जीवन के गम्भीर पक्षों की ओर भी मुके किन्तु 'पन्त' मुख्य रूप से सौन्दर्य व प्रेम के उपासक हैं, कठोरता व संघर्ष की गहराई उनमें नहीं है। 'ग्राम्या' में दलित वर्ग से केवल 'बौद्धिक सहानुभूति' रही है। 'उच्छ्वास' तक की रचनाओं में उनके प्रकृति सम्बन्धी या स्वच्छन्द वैयक्तिक उद्गार ही आकर्षक हुए हैं। उनके 'गुञ्जन' में सुख-दुख का पलड़ा बराबर करने वाला गीत "सुख दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन" प्रसिद्ध हुआ। 'भावी पत्नी के प्रति' भी सुन्दर गीत है। 'स्वर्णकिरण का एक गीत'—

"विदा विदा शायद मिल जायें यदा कदा
मैं बोला तुम जाओ प्रसन्न मन जाओ मेरी काशी
उसकी पलकों पर आँसू थे ओठों पर निश्छल हाँसी"

मानसिक दर्शन व साम्य पर निर्भर होने से अत्यन्त प्रभावपूर्ण हुआ है। 'पन्त' में कसक है, निराशा है, पर वे आशावादी भी हैं, द्रष्टा हैं और अनेक प्रभावों में उनका मानसिक धरातल बदलता रहा है। कहा "एक बार बहता जग जीवन एक बार मेरा मन" उन्हें जीवन से निराश कर देता है तो कहीं "मेरे मानस का स्वर्गलोक उतरेगा भू पर नई बार" की भावना प्रवृत्त करती है। प्रकृति व्यापारों पर मानवी भावों का आरोप अधिक है। किन्तु परिवर्तित चिन्तन के कारण एक से अनुभूति मूलक गीत सर्वत्र नहीं मिलते। उनका बुद्धिवाद, तर्कों का दीर्घ ह्रस्व नियम गीतों के प्रवाह व लय में बाधक होता है, इसी कारण गीत सर्वत्र पूरे मान्य नहीं हो सके हैं। फिर संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग भी बाधक हुआ है।

गीत काव्य का चरम विकास 'महादेवी' जी की रचनाओं में हुआ। विरह वेदना की अभिव्यक्ति में उन्हें पूर्ण सफलता हुई। बरबस विस्मय के साथ

रहने दो हे देव अरे यह,
मेरा मिटने का अधिकार ।"

प्रकृति में मानव सुख दुःख की अनुभूति, प्रिय की निरन्तर उपेक्षा, नुदार विनय के कारण सारे गीत वेदना की निवृत्ति व करुणा से ओत-त हो गये हैं। साथ ही उपयुक्त शब्द-चयन पद-लालित्य का भी पूर्ण मावेश है। कवियित्री प्रिय के गीतों का माध्यम व गीत स्वयं बन गई है, हाँ द्वैत का पता ही नहीं—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ....
अधर भी हूँ और उसकी चाँदनी भी हूँ।

अपने जीवन प्रदीप से वे यही कहती रही हैं—

"मधुर मधुर मेरे दीपक जल,
युग-युग, प्रतिदिन, प्रतिपल, प्रतिक्षण।
प्रियतम का पथ आलोकित कर,
दे प्रकाश का रूप अपरिमित।
तेरे जीवन का अणु गल-गल ।"

जब कि उनकी जीवन-कहानी बरसात की मेघघटा की तरह है जिसकी क्षणिकता का उन्हें गर्व है।

मेवाड़ के मरुभूमि की मन्दाकिनी, भक्ति के तपोवन की शकुन्तला मीरा ने शब्दों के पुष्पों में सौरभ भरा था; महादेवी ने भी साहित्य को अन-मोल गीतों से सजाया। मीरा कुसुम्भी साड़ी पहन कर कृष्ण-दर्शन चाहती थी पर ये कहती हैं—"काटूँ वियोग-पल रोते संयोग समय छिप जाऊँ।" मीरा में अपूर्व तन्मयता, गति व मिठास है—"पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे" में उसकी साधना का चरम उत्कर्ष है। महादेवी लिखती हैं—

"तुझसे ही तेरा करुण गान
बहते कन कन से फूट फूट मधु के निर्झर से सजल गान"।

. न ये हैं, तत्र परिवर्तन के पुतले'' किन्तु प्रतीकात्मक शैली द्वारा भाव हो गया। जब कि 'बच्चन' में स्पष्टता है। "प्रिय शेष बहुत है रात ी मत जाओ'' "वह पगध्वनि मेरी पहिचानी'' अत्यन्त प्रसिद्ध गीत हैं। स पार-उस पार'' कविता की तो खूब धूम रही। नये कवि या तो 'पन्त' नाम की माला जपते या 'बच्चन' के गीत गुनगुनाते हैं! अनुभूति की व्रता एवं तह तक का निरावरण चित्रण उनकी विशेषता है।

'नरेन्द्र शर्मा' के गीतों में निराश प्रेम की व्यञ्जना प्रधान रही। सिनेमा सम्पर्क से भाषा शैली व भावों का माध्यम बदल गया जो उनकी कविता लक्षित होता है। व्याकुल कवि नैराश्यजन्य उद्गार प्रकट करता हुआ हता है—

> "आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !
> आज से दो प्रेम योगी अब वियोगी ही रहेंगे !''

ही भावना 'अंचल' द्वारा इस प्रकार व्यक्त हुई—

> "अब मिलेंगे कौन जाने किन्तु तब तक
> भूलना मुझको न प्रियतम !''

'अंचल' तक आते आते मानसिक अनुभूति का स्थान मांसलता ने ले लिया। मनुष्य की वासनाओं, तृषा का उन्मुक्त चित्रण ज्यों का त्यों होने लगा। 'मैं' 'तू' तक ही गीत सीमित हो गये और "फिरती घर तुम्हें प्रिय मेरी याद दिलाती होगी'' जैसे गीत लिखे जाने लगे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली पद्य के विकास के साथ-साथ सुन्दर व सफल गीतों की रचना भी हुई। 'प्रसाद' 'पन्त' ने कोमलता द्वारा भाषा को सशक्त किया, फलतः खड़ी बोली में माधुर्य व कोमल कान्त पदावली का अभाव न रहा। भावों की गहराई के साथ-साथ कविता-कामिनी को खूब सजाया सँवारा गया। वाह्याडम्बर अत्यन्त आकर्षक हुआ। महादेवी ने गम्भीर अनुभूति के साथ अन्य मात्र उपादानों के योग से

हिन्दी में आलोचना के विभिन्न रूप

साहित्य में समालोचना का कार्य बहुत ही गुरुतर है। साहित्य में अनर्गल और अनावश्यक विषयों का समावेश हो जाता है उसका परिशोधन समालोचना के ही द्वारा होता है। यदि साहित्य एक वन्य कुञ्ज तो उसे उपवन-वत् बनाने में एक समालोचक ही समर्थ है। साहित्य रूपी उद्यान में काटने और सींचने के दोनों काम समालोचना के ही द्वारा हो सकते हैं। साहित्य के विभिन्न अङ्गों में समालोचना का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इस समय आलोचना की क्यारी कई रूपों में प्रस्फुटित हो रही है, जिनका विवरण हम आगे करेंगे।

हिन्दी में समालोचना का प्रारम्भ भारतेन्दु के समय में हो चुका था। हिन्दी साहित्य में आलोचना सर्वप्रथम गुण-दोष के रूप में प्रकट हुई। लेखों के रूप में इसका सूत्रपात भारतेन्दु के समय में ही हुआ। लेखों के रूप में पुस्तकों की विस्तृत समालोचना पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका में शुरू की। 'प्रेमघनजी' ने लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना लिखी जिसमें दोषों का उद्घाटन बड़ी बारीकी से किया गया था।

निर्णयात्मक आलोचना—के अनुसार आलोचक पुस्तक के गुण-दोष प्रदर्शित करता है। निर्णयात्मक आलोचना में आलोचना करते समय कुछ स्थिर और सदामान्य सिद्धान्त सामने रख लिए जाते हैं और उन्हीं के द्वारा आलोचना की जाती है। इसमें आलोचक का स्थान बड़े महत्व

होता है। वह एक निर्णायक की तरह हमारे सामने अनुचित, गुण-दोष का प्रदर्शन करता है। पं० प्रकार की समालोचना की नींव डाली। द्विवेदीजी न कुशता' में निर्णयात्मक समालोचना के उदाहरण पश्चात् उन्होंने 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' तथा आलोचनात्मक पुस्तक लिखकर इस क्षेत्र में . उदाहरण प्रस्तुत किये। इस शैली में सबसे बड़ा कला की उन्नति को नहीं मानता। भिन्न-भिन्न वर्तन होते हैं उनको यह भूल जाता है और एक का साहित्य तौलता है।

द्विवेदीजी ने जीवन पहलू—आत्मपक्ष पर सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी छत्रछाया में अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सम्पूर्ण त्रुटियों पोषण करना द्विवेदीजी का ही काम था और वे समीक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले 'हिन्दी नवरत्न' पर अपना मत देकर समीक्षा प्रस्तुत की।

तुलनात्मक आलोचना—द्विवेदीजी के मिश्रबन्धु थे। इन्होंने सर्वप्रथम तुलनात्मक आपने 'हिन्दी नवरत्न' में बिहारी से देव को देव और बिहारी पर एक बड़ा विवाद उठ खड़ा समीक्षा में देश-काल के उपादानों का पर भी प्रकाश पड़ा, किन्तु वह सब उल्लेख दृष्टि में कोई परिवर्तन न हो पाया। वह कुछ काव्य का मोह न त्याग सके, न उन्होंने काव्य समष्टा से पृथक करके देखा। रीति-काव्य

समीक्षा पर अमिट प्रभाव पड़ा है। मिश्रबन्धु के देव और बिहारी के विवाद को लेकर पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' की भूमिका लिख हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। शर्माजी ने अपनी पुस्तक में बिहारी की तुलना बड़ी विद्वत्ता के साथ संस्कृत की गाथा सप्तशती तथा आर्या-सप्तशती से की है। शास्त्रीय सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण कर यद्यपि शर्माजी ने गम्भीर विवेचन का प्रयत्न किया है परन्तु अधिकांश में—आलोचना गम्भीर न रह कर प्रभाववादी हो गई है। शर्माजी की समीक्षा का आधार रीति-कविता है। उनकी समालोचना में साहित्य का प्रधान अङ्ग उसका रचना-कौशल माना गया है। उन्होंने साहित्य की आत्मा को छोड़ कर उसके शरीर पर ही अधिक ध्यान दिया है। नवीन सुधार का विषय काव्य-आत्मा नहीं, काव्य-शरीर था। यह भी समय को देखते हुए अनिवार्य था। पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा काव्य-शरीर का आग्रह करके चली, देव और बिहारी को आदर्श बनाकर आगे बढ़ी।

बिहारी के विपरीत देव की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नाम की एक विद्वत्तापूर्ण पुस्तक लिखी। इसमें मिश्रजी ने बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों की भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाओं की तुलना की है। इस पुस्तक में मिश्रजी वास्तव में निष्पक्ष और एक सहृदय मार्मिक आलोचक के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। इस पुस्तक के उत्तर में लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' नाम की पुस्तक निकाली जिसमें बिहारी की उत्कृष्टता को सिद्ध किया गया। विरुद्ध में अनेक लेख लिखे गये परन्तु इनमें से अधिकांश लेखों में साहित्यिक आलोचना के स्थान पर वितण्डावाद के ही दर्शन होते हैं। श्री मिश्रजी व दीनजी दोनों इस युग के मुख्य समीक्षकों में से हैं जिन पर रीति-पद्धति की पूरी छाप है। द्विवेदीजी अपनी समीक्षा में काव्य विषय को महत्व देते हैं, भले ही शैली का सौन्दर्य अथवा भावात्मकता उसमें न हो। मिश्रजी और दीनजी विषय की अपेक्षा काव्य-शैली को मुख्य ठहराते हैं। पं० विश्वनाथ मिश्र ने 'बिहारी की वाग्विभूति' के

मनोवैज्ञानिक समालोचक कला का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं समझता जब तक कलाकार का पूर्ण अध्ययन न करले। जब कला कलाकार के मानसिक प्रवृत्तियों का ही प्रतिबिम्ब मात्र है तब क्यों न मूल स्रोत की खोज की जाय ? जब मूल का परिज्ञान हो जायगा तब शाखाओं के समझने में कितनी देर लगेगी। अतएव इस प्रणाली में कलाकार के अध्ययन में ही उसकी कला का अध्ययन हो जाता है।

विश्लेषणात्मक आलोचना—(क) आधुनिक कवियों पर—विश्लेषणात्मक आलोचना की परिपाटी पर आज हिन्दी में अनेक उत्कृष्ट आलोचना पुस्तकें लिखी जा रही हैं। आधुनिक कवियों की विशद आलोचना प्रस्तुत करने में श्री नगेन्द्र (साकेत—एक अध्ययन), श्री सत्येन्द्र (गुप्तजी की कला), श्री रामनाथ सुमन (प्रसाद की काव्य साधना), श्री नन्ददुलारे वाजपेयी (जयशङ्करप्रसाद), गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश (महाकवि हरिऔध), आचार्य श्री जगन्नाथ (रामकुमार वर्मा आ॰) तथा गङ्गाप्रसाद पांडे (कामायनी—एक परिचय) प्रमुख हैं। इन आलोचकों ने अपने-अपने विशिष्ट कवि के बहुत सुन्दर आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किये हैं।

(ख) प्राचीन कवियों पर:—विशद विवेचन करने वाले आलोचकों में आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्रमुख स्थान है। सन्त साहित्य पर आपका अध्ययन पर्याप्त विस्तृत है। आपकी 'कबीर' और 'सूरदास' पर लिखी हुई आलोचनाएँ सर्वथा मौलिक और अपने ढङ्ग की अनूठी पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन कवियों पर विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वालों में सर्वश्री अखौरी गङ्गाप्रसादसिंह (पद्माकर की काव्य-साधना तथा केशव की काव्य-कला), डा॰ ब्रजेश्वर वर्मा (सूरदास), गङ्गानाथ झा (महाकवि विद्यापति), भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र (मीरा की प्रेम-साधना), डा॰ रामकुमार वर्मा (कबीर का रहस्यवाद), रामरतन भटनागर (सूर साहित्य की भूमिका, केशवदास, विद्यापति आदि), नलिनी मोहन (मलूकदास), भुवनेश्वर मिश्र माधव (सन्त साहित्य) इत्यादि प्रमुख हैं।

सामयिक युग में आलोचनात्मक अध्ययन में
विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को अधिक प्र---ा जा रहा
अज्ञेय तथा जैनेन्द्र मनोविश्लेषण का म महत्व
शोध का प्रयत्न कर रहे हैं।

ऐतिहासिक आलोचना—किसी च की
चना करना ऐतिहासिक आलोचना कहलाती है।
प्रतिनिधि होता है। यह स्वाभाविक है कि उस
वरण, विचारधारा आदि का उस पर प्रभाव पड़े।
चित्र खींचती है। अतएव समालोचक के लिए
जाता है कि उस समय के सामाजिक, राजनैतिक,
परिस्थितियों का अध्ययन करे, उसका पूर्ण
इतिहासों में प० रामचन्द्र शुक्ल का (हिन्दी
रामकुमार वर्मा का (हिन्दी साहित्य का
शङ्कर शुक्ल का (आधुनिक हिन्दी साहित्य का
द्विवेदी का (हिन्दी साहित्य की भूमिका),
(हिन्दी साहित्य), मोतीलाल मेनारिया
साहित्य), आचार्य चतुरसेन शास्त्री का (
इतिहास), महापण्डित राहुल साङ्कृत्यायन का
विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

परीक्षा की दृष्टि से साहित्य का सरल
इतिहास निकल रहे हैं, वे महत्वहीन हैं।
सामग्री का उपयोग करने में असमर्थ रहते
का प्रयत्न अवश्य सराहनीय है। उन्होंने
इतिहास' में आधुनिकतम साहित्य ।
प्रति वर्ष नए संस्करण में 'अप-टू-डेट'
की नींव डालने वाले आचार्य शुक्लजी हैं

प से सफल है। अभी कुछ समय पूर्व डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय और डा० श्रीकृष्णलाल के हिन्दी साहित्य की ५० वर्षों की प्रगति पर लिखे गये मशः 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' और 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का कास' नामक इतिहास प्रकाशित हुए हैं। डा० वार्ष्णेय ने हिन्दी साहित्य का १८५० से १९०० तक और डा० श्रीकृष्णलाल ने १९०० से १९२५ तक की हिन्दी साहित्य की प्रगति का उल्लेख किया है। आधुनिक कवियों की छानबीन करने के कारण पं० श्रीकृष्णशङ्कर शुक्ल के इतिहास ने ख्याति पाई है।

सैद्धान्तिक आलोचना—में आलोचक आलोचना शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों तथा नियमों का परिचय देता है। ये नियम या सिद्धान्त ही निर्णयात्मक आलोचना के आधार होते हैं। जिन ग्रन्थों में आचार्यों द्वारा दिये हुए काव्य के आदर्श बतलाये जाते हैं और उन आदर्शों की उपलब्धि के लिए नियम और उपनियम निर्धारित किये जाते हैं वे ग्रन्थ सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थ कहलाते हैं। इन ग्रन्थों के आदर्श तथा नियम और उपनियम निर्णयात्मक आलोचना के आधार बनते हैं।

आधुनिक युग में सैद्धान्तिक आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'नाटक' नाम की पुस्तिका से होता है। इस पुस्तक में नाट्यकला के विकास तथा भारतीय और यूरोपीय नाटकों के इतिहास की संक्षिप्त विवेचना है तथा नाट्य-शास्त्र पर भी प्रकाश डाला गया है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'रसज्ञ-रञ्जन' के कुछ निबन्धों में सैद्धान्तिक आलोचना का अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है। बाबू श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' सर्वप्रथम आलोचना-शास्त्र का ग्रन्थ है। यद्यपि इसमें मौलिकता कम है तथापि वह एक प्रकार से सर्वाङ्गपूर्ण है। साहित्यालोचन ग्रन्थ में काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्याङ्गों की पहली बार सुन्दर व्याख्या की गई है और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'विश्व साहित्य' में यूरोपीय और विशेष कर अंग्रेजी साहित्य की मोटी रूपरेखा प्रस्तुत की

गुप्त) रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता (डा० नगेन्द्र) हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास (डा० सोमनाथ गुप्त) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डा० रामकुमार वर्मा) तुलसी दर्शन (डा० बलदेवप्रसाद) तुलसीदास (डा० माताप्रसाद गुप्त) प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन (डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा) आधुनिक काव्यधारा (डा० केशरीनारायण शुक्ल) हिन्दी काव्य के प्रकृति चित्रण (डा० किरणकुमारी गुप्ता) आदि आदि थीसिसों के नाम उल्लेखनीय हैं। अभी हाल में श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' शीर्षक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया है। यह एक प्रकार से हिन्दी सन्त परम्परा का विश्वकोष सा है। डा० सत्येन्द्र ने 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन' शीर्षक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिख कर साहित्य के एक विशिष्ट अङ्ग की ओर कदम बढ़ाया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी की राम साहित्य धारा की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान गया। 'रामकथा की उत्पत्ति और विकास' (कामिल बुल्के) पर हिन्दी में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में रामकथा के समस्त भारतीय तथा विदेशी उद्गमों की परीक्षा की गई है और उसके फलस्वरूप परिणाम दिये गये हैं।

(ख) *भाषा सम्बन्धीः*—साहित्य क्षेत्र के अतिरिक्त भाषा के क्षेत्र में भी कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें अवधी का विकास (डा० बाबूराम सक्सेना) ब्रजभाषा (डा० धीरेन्द्र वर्मा) भोजपुरी का विकास (उदयनारायण तिवारी) बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति तथा विकास (नलिनी-मोहन सान्याल) हिन्दी शब्दार्थ विज्ञान (हरदेव बाहरी) उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त भाषा सम्बन्धी अध्ययनों में मुहावरा मीमांसा (ओमप्रकाश गुप्त) भारतीय ग्रामीणों की शब्दावली का अध्ययन (हरिहर प्रसाद गुप्त) हिन्दी प्रदेश के हिन्दू पुरुषों के नामों का वैज्ञानिक अध्ययन (विद्याभूषण विभु) उल्लेखनीय हैं।

मार्क्सवादी आलोचनाः—प्रगतिवादी झण्डे के नीचे अब मार्क्सवादी आलोचना का प्रचार हो रहा है। इस प्रकार की आलोचना कला को

गुप्त) रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता (डा० नगेन्द्र) हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास (डा० सोमनाथ गुप्त) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डा० रामकुमार वर्मा) तुलसी दर्शन (डा० बलदेवप्रसाद) तुलसीदास (डा० माताप्रसाद गुप्त) प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन (डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा) आधुनिक काव्यधारा (डा० केशरीनारायण शुक्ल) हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण (डा० किरण-कुमारी गुप्ता) आदि आदि थीसिसों के नाम उल्लेखनीय हैं। अभी हाल में श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' शीर्षक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया है। यह एक प्रकार से हिन्दी सन्त परम्परा का विश्वकोष सा है। डा० सत्येन्द्र ने 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन' शीर्षक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिख कर साहित्य के एक विशिष्ट अङ्ग की ओर कदम बढ़ाया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी की राम साहित्य धारा की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान गया। 'रामकथा की उत्पत्ति और विकास' (कामिल बुल्के) पर हिन्दी में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में रामकथा के समस्त भारतीय तथा विदेशी उद्गमों की परीक्षा की गई है और उसके फलस्वरूप परिणाम दिये गये हैं।

(ब) भाषा सम्बन्धी:—साहित्य क्षेत्र के अतिरिक्त भाषा के क्षेत्र में भी कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें अवधी का विकास (डा० बाबूराम सक्सेना) ब्रजभाषा (डा० धीरेन्द्र वर्मा) भोजपुरी का विकास (उदयनारायण तिवारी) बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति तथा विकास (नलिनी-मोहन सान्याल) हिन्दी शब्दार्थ विज्ञान (हरदेव बाहरी) उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त भाषा सम्बन्धी अध्ययनों में मुहावरा मीमांसा (ओमप्रकाश गुप्त) भारतीय मामोद्योगों की शब्दावली का अध्ययन (हरिहर प्रसाद गुप्त) हिन्दी प्रदेश के हिन्दू पुरुषों के नामों का वैज्ञानिक अध्ययन (विद्याभूषण विभु) उल्लेखनीय हैं।

मार्क्सवादी आलोचना:—प्रगतिवादी झण्डे के नीचे अब मार्क्सवादी आलोचना का प्रचार हो रहा है। इस प्रकार की आलोचना कला को

सेनापति का प्रकृति चित्रण

रीतिकाल में प्रकृति चित्रण का स्वरूप—रीतिकाल तक आते-आते हिन्दी कविता अत्यधिक रूढ़िवादी तथा संकुचित हो गई थी। रस में शृङ्गार का सर्वोपरि स्थान था। इसके अतिरिक्त यदि किसी अन्य रस ने कवियों को आकृष्ट किया था तो वह वीर और शान्त रस था। शृङ्गार रस की बराबरी में यह दोनों मिलकर भी सम्मानित न हुए। शृङ्गार रस की उत्पत्ति आलम्बन के द्वारा होती है। यह (आलम्बन) हृदय में किसी भाव विशेष को जाग्रत करते हैं। इस भाव को उत्तेजित करने का काम उद्दीपन विभाव का होता है। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत कुछ ऐसी बातें आती हैं जो पात्रगत होती हैं—नायक नायिका के अंग-प्रत्यंग, उनकी मनमोहक चेष्टायें, वेष भूषा आदि; और कुछ ऐसी होती हैं जो पात्रों से बहिर्गत रहती हैं। आचार्यों ने इस दूसरे वर्ग में प्रकृति के विशाल सौन्दर्य में से वन, उपवन, सरोवर, षट्ऋतु आदि कुछ प्रमुख रूपों को स्थान दिया है। इस संकुचित दृष्टिकोण के कारण रस-निरूपण पद्धति में प्रकृति के उन स्वतन्त्र वर्णनों का समावेश नहीं हो पाया जिनमें वे स्वयं आलम्बन रूप में थे। प्रकृति को उद्दीपन रूप में चित्रित करने की यह चाल रीतिकाल में अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। प्रकृति के स्वतन्त्र क्षेत्र की ओर आँख उठाकर देखने की न तो कवियों को फुरसत ही थी और न इच्छा ही। कामिनी के क्रिया कलापों की कोमलता; उनके सौन्दर्य की बेसुध करने वाली मादकता को तीव्रता देना ही प्रकृति का काम रह गया था और इसी दृष्टि-कोण से अधिकांश कवियों ने प्रकृति का चित्रण किया है। यदि वर्षा आती

र्णन किया है और ऐश्वर्यशालियों के ऋतु-सम्बन्धी आयोजनों तथा द प्रमोद का वर्णन किया है। यह सब इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। रघुवंश के इस मत के विरुद्ध प्रो० उमाशङ्कर शुक्ल का कहना है:— की ऋतु सम्बन्धी रचना को भली भाँति देखने से यह विदित होता है कृति के प्रति इनके हृदय में पर्याप्त अनुराग था, यद्यपि परम्परा तथा लिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण वह बहुत संकुचित लाई पड़ता है।" (कवित्त रत्नाकर भूमिका पृष्ठ २६) दो विद्वानों के विरोधी मतों के होते हुये भी यथार्थ रूप में डा० रघुवंश का कथन क समीचीन प्रतीत होता है। सेनापति में प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण है । हृदय में उसके प्रति उनकी सहानुभूति भी कुछ न कुछ अवश्य होगी, तु हमें उनमें प्रकृति का वह रूप नहीं मिलता जो कि उनका प्रकृति से त्मक सम्बन्ध जोड़ सके—प्रकृति के एक एक अङ्ग—घास की हरियाली, त्र की ललाई तथा चाँद की जुन्हाई देख कर आनन्द विभोर हो उठे। के यथार्थ चित्र जो हैं उनमें प्रकृति से उनका रागात्मक सम्बन्ध नहीं जकता। फिर भी हिन्दी काव्य में सेनापति इस क्षेत्र में अकेले हैं। उन्होंने कृति को उसके यथार्थ रूप में देखा है और उसके कुछ कलापूर्ण चित्र पे हैं।

प्रकृति के यथार्थ चित्र—सेनापति ने यथार्थ चित्र दो प्रकार से उप-स्थत किये हैं। (१) एक प्रकार के चित्रों में प्रकृति सम्बन्धी रङ्ग रूप को धिक व्यक्त किया है; (२) दूसरे प्रकार में प्रकृति की प्रभावशीलता को धिक भाव गम्य बनाया गया है। क्वार के बादलों का चित्रण पहले कार का है—

> खंड खंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
> सेनापति मानो सृङ्ग फटिक पहार के।
> अंबर अडंबर सौ उमड़ि घुमड़ि, छिन
> छिछके छछारे छिति अधिक उछार के॥

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारि हू दिसान घुमरत भरे तोइ कै।
सोमा सरसाने, न बखाने जात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानों काजर के ढोइ कै ॥
घन सो गगन छ्यौ, तिमिरि सघन भयौ,
देखि न परत मानों रवि गयौ खोइ कै।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोइ कै ॥
(तीसरी तरङ्ग, छन्द ३१)

अलङ्कार वैचित्र्यः—सेनापति की अलङ्कार प्रवृत्ति उनके ऋतु वर्णनों
यों तो सभी स्थलों पर मिलती है, किन्तु अनेक स्थल पर यह केवल
मत्कार के रूप में प्रयुक्त हुई है। उदाहरण के लिए रवि के छोटे होने
ा एक वर्णन है:—

सीत तें सहस कर सहस चरन ह्वै कै,
ऐसे जाति भाजि तम आवत हैं घिरि कै।
जौलौं कोक कोकी कौं मिलत तौलौं होति राति,
कोक अध बीच ही तैं आवत है फिरि कै ॥
(तीसरा तरङ्ग, छन्द ५१)

यह अलङ्कार प्रवृत्ति ही सेनापति की प्रमुख प्रवृत्ति है।

भाव व्यञ्जनाः—अपनी इसी (अलङ्कार) भावना के कारण सेनापति
प्रकृति से निकट संपर्क नहीं स्थापित कर पाए हैं। प्रकृति या तो उनके लिए
वर्णन का विषय है या उद्दीपन की प्रेरक। ऐसे स्थल भी कम हैं जहाँ कवि
ने प्रकृति के माध्यम से भाव साम्य की व्यञ्जना की हो। केवल एक आध
स्थल पर ही प्रकृति की भाव समता मानवीय सुख की व्यञ्जक हो उठी है।
सेनापति ने अधिकतर सामन्ती ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण ही प्रस्तुत किया है,
इस कारण इनके काव्य में मानव और प्रकृति दोनों ही के सम्बन्ध में

प्रकृति रूपों का उल्लेख विभिन्न काव्य रूपों के अन्तर्गत किया जा सकता है

चमत्कृत तथा प्रेरक रूपः—इसमें प्रकृति का प्रभावोत्पादक रू प्रस्तुत किया जाता है। यह चमत्कार वृत्ति के कारण अधिकतर उदात्त होता है:—

> गगन गरद धूँधि, दसौ दिसा रहीं रूँधि,
> मानौं नभ भार की भसम बरसत है।
> बरनि बताई, छिति व्यौम की तताई जेठ,
> आयौ आततायी पुटपाक सौं करत है॥
> (तरङ्ग ३, छन्द १५

स्वाभाविक वर्णनः—

> धायौ हिम दल, हिम भूधर तैं सेनापति,
> अंग-अंग जग, थिर जंगम ठिरत है।
> पैये न बताई माजि गई है तताई, सीत,
> आयौ आततायी, छिति अम्बर फिरत है॥
> (तरङ्ग ३, छन्द ५४

भाव का आधारः—इस रूप में केवल व्यापक भावना के प्रत्यक्ष हो पर प्रकृति का चित्र उपस्थित होता है जिसमें उद्दीपन व्यञ्जना उसी पर प्रद की जाती है:—

> बरसत घन, गरजत सघन, दामिनि दिपैं अकास।
> × × ×
> *उमगि चले नद-नदी, सलिल पूरन सर बरसत॥*
> (तरङ्ग ३, छन्द ३५

प्रत्यक्ष स्मृति—इसमें भाव का व्यक्त आलम्बन सामने आता है—

> आयौ सखी सावन मदन सरसावन,
> लग्यौ है बरसावन ललित चहुँ ओर तैं।
> (तरङ्ग ३, छन्द २६

उत्तेजक प्रकृति—चमत्कारी प्रकृति का
अस्वाभाविकता भी आ जाती है—

काम घरे बाद तरवारि, तीर, जय ह
आवत असाढ़ परी गाद

प्रकृति भावों की पृष्ठ-भूमि में—प्रकृति
भूमि रूप में भी हुआ है। यहाँ प्रकृति का उल्ले
व्यञ्जना ही मुख्य रहती है। इसमें (१) भावों
आधारों पर व्यक्त किया जाता है। (२) कष्ट त
दिखाया जाता है। (३) राजा-रईस का ऐश्वर्य ब
तीनों रूप एक दूसरे में घुले-मिले रहते हैं।

व्यथा उल्लास—

राति न सिराति विया बीतत न बिर
मदन अरति ओर ओर

देव का 'सांसन ही सो समीर गयो' भी इसी

विलास-ऐश्वर्य—

जेट नजिकाने सुधरत खसखाने, त
तारा तहखाने के सुधारि

× ×

ग्रीषम के बासर बराइबे कौं सीरे थ
राजभोग काज साज यौं

प्रकृति का आरोप—इसमें चमत्कार प्रधान
का आश्रय लिया जाता है—

परे हैं तुसार, भयौ झार पतझार, रही,
पीरी सब डार, सो वियोग सरसति है।
बोलत न पिक, सोई मौन है रही हैं, आस-
पास निरजास, नैंन नीर बरसति है॥
(तरङ्ग ३, छन्द ५६).

उपमानों की योजना में प्रकृति—सेनापति ने परम्परागत उपमानों का प्रयोग किया है। यथार्थ में वे श्लेष के फेर में पड़ गये हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने कोई विशेष नवीनता नहीं दिखलाई है।

इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि सेनापति ने प्रकृति के क्षेत्र का यथेष्ट तथा विविध रूप में चित्रण किया है। यथार्थ चित्रण में तो वह सबसे बढ़े हुए हैं ही।

प्रसाद और

एक ही समय, एक ही सरोवर में दो कमनीय
ने मुक्त-दल पराग बखेरा। हिन्दी संसार सुरभित हो
क्षेत्र पर आगमन बनाया तो दूसरे ने
यशस्वी कलाकार थे—श्री प्रेमचन्द एवं प्रसाद।
नाटक लिख कर नाटककार कहलाने का
प्रसादजी ने भी उपन्यास भवन के निर्माण में
क्षेत्र दोनों का भिन्न ही रहा। उपन्यासकार प्रेम
प्रसाद में बहुत सी समानतायें मिल जायें तो
प्रकार नाटककार प्रसाद एवं प्रेमचन्द के नाटकों
मिल ही जायँगी। कारण स्पष्ट है। दोनों एक ही
कैसी विचित्र बात है कि नाटककार प्रसाद एवं
बहुत साम्य प्राप्त होता है। इसका बहुत कुछ
एक ही आकाश के नीचे डेरा लगाया, एक ही
तथा एक ही प्रान्त, नहीं नहीं एक ही नगर से

दोनों कलाकारों का लक्ष्य एक ही
उठाना। अतः दोनों ही आदर्शवादी
ही धड़कन थी, एक ही गति। दोनों अपने
अतः दोनों ने देशभक्ति की सुरसरी धारा
मार्ग दोनों के दो थे। प्रसाद ने अतीत के
"अरुण यह मधुमय देश हमारा (चन्द्रगुप्त

प्रथम किरणों का दे उपहार (स्कन्दगुप्त)" एवं "हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग शुद्ध शुद्ध भारती (चन्द्रगुप्त)" का शङ्ख घोष कर भारतीयों के हृदयों रा प्रेम का सागर उद्वेलित किया और पूछा—"वसुन्धरा का हृदय त किस मूर्ख को प्यारा नहीं"। उनकी 'अलका' राष्ट्रीय ध्वज लेकर सेवक सैनिकों के आगे कूच करती है। उधर प्रेमचन्द ने प्रतिष्ठि है, राजनीतिक उपन्यासकार के रूप में। श्री रामदास गौड़ के शब्दों प्रेमाश्रम' भारत का पहिला राजनीतिक उपन्यास है। तब प्रेमचन्दजी प्रथम राजनीतिक उपन्यासकार सिद्ध हुए। उनके उपन्यासों में गुलाम त की आत्मा का करुण क्रन्दन है। उनके उपन्यास गांधीवाद के प्रति-थे हैं। उनमें अहिंसात्मक आन्दोलन है तो सत्याग्रह संग्राम भी। साथ इस राष्ट्रीयता के रूप में भी अपूर्व साम्य है दोनों की लेखनी में। दोनों प्रेमियों ने महाकवि रवीन्द्र अथवा नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय की ीयता को नहीं स्वीकार किया है, वरन् अपनाया है गांधीजी के राष्ट्र प्रेम जिसमें मेरा देश मेरा है, मैं पहिले इसका ध्यान रक्खूँगा, पीछे अन्य शों का। राष्ट्र मेरे लिए सर्वोपरि है, यह अन्य देशों से श्रेष्ठतर है।

कथा निर्वाचन शैली में भी दोनों ने अनोखी समानता दिखाई है। नों को कथा विस्तार से मोह था। अतः दोनों कलाकारों की कृतियों में थानक की विशालता, सघनता एवं जटिलता मिलेगी। प्रेमचन्दजी के न्यासों में अधिकांशतः एक मुख्य कथा-प्रवाह न होकर कई कथाओं एवं घटनाओं का घटाटोप भरा रहता है। रङ्गभूमि में काशी, पांडेपुर एवं सवन्तनगर भिन्न-भिन्न कथाओं को लपेटे हुए एक सामञ्जस्य उपस्थित करते हैं। इस उपन्यास में २ हिन्दू परिवार, १ मुस्लिम परिवार तथा १ ईसाई परिवार के सदस्य जीवन-नाटक में अभिनय करते हैं। इसमें ५ कथायें हैं:—१–विनय सोफिया की, २–सूरदास की, ३–ताहिर अली की, ४–राजा महेन्द्रसिंह एवं इन्दु की, ५–ईसाई परिवार की। 'कायाकल्प' ३ जन्मों की ५ प्रेम-गाथायें हैं (१) ठाकुर हरिसेवक एवं लौंगी की (विशालसिंह एवं रोहिणी की (३) मनोरमा एवं विशालसिंह की (४)

एवं चक्रधर की (५) देवप्रिया एवं महेन्द्रसिंह की। इसी
गोरखपुर, काशी, लखनऊ एवं लखनपुर—इन
कथाएँ आगे बढ़ती हैं।

उधर प्रसादजी ने भी कथा-विस्तार में पराजय न
अपने नाटकों में घटनाओं की भीड़ लगादी है।
को, मगध और कौशल की मुख्य घटनाओं की
नियाँ पिरोई गई हैं। स्कन्दगुप्त में ६ कथाएँ हैं तो

इस कथा सुरसा की भीड़ भड़प्पा में कहीं कोई
है, तो कोई फील-पाँव। अनावश्यक घटनाएँ आ गई
में कोई सहायता नहीं पहुँचती। प्रेमचन्दजी ने व्यर्थ
एवं पद्मशङ्कर की प्रेमाश्रम में बलि दी। गोदान में
वेश्याओं से घटना-प्रवाह को क्या बल मिला!
मनण एवं ब्राह्मण विवाद क्यों कराया! उससे
सहायता मिली! सिकन्दर एवं दाण्ड्यायन भेंट से
हुई! वास्तव में बात यह है कि कथाकार किसी न
व्यक्तिगत विचारों के प्रदर्शन के लिये दृश्य,
कर देता है जो पैबन्द की भाँति ऊपर से चिपक

कथा-विस्तार के कारण पात्रों की संख्या भी
गई है। यह यहाँ तक बढ़ी कि उनका समेटना
आत्महत्याओं द्वारा उन्हें जीवन-रङ्गमञ्च से
प्रचुर प्रयोग कलाकार की असमर्थता का
सँभाल नहीं पाता, वही इस साधन को काम में
में कुमारामात्य, पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार एवं
है। चन्द्रगुप्त में मालविका, कल्याणी,
इसी दिशा में हुआ। हमारे प्रेमचन्दजी

शनशङ्कर, गायत्री, पन्नशङ्कर और तेजशङ्कर द्वारा अश्वमेघ कराया है। यवन में चौहल एवं रतन भी यही कार्य करते हैं।

दोनों चित्रकारों ने वर्गगत पात्रों का निर्माण किया है। दोनों कलाकारों के पात्र भिन्न-भिन्न कृतियों में प्राय: एक से हैं। केवल दो ही अमर पात्र अपने अतुल व्यक्तित्व से सदा स्मृति पटल पर अङ्कित रहेंगे। रङ्गभूमि में प्रेमचन्दजी का सूरदास अपनी सत्ता सब से अलग रखता है। उसका व्यक्तित्व अद्वितीय है। साधारण व्यक्ति होते हुये भी वह हिमालय की भाँति उच्च एवं दृढ़ है। ऐसा ही एक कमनीय कुसुम है प्रसाद का। वह स्वर्गीय पुष्प अपनी सुधा-सुगन्ध सदा हिन्दी संसार में वितरित करेगा। वह कोमल, मृदुल, भोली एवं त्यागमयी देवसेना है।

प्रसाद के वर्गगत पात्रों में सबसे पहिले हमारा ध्यान वे पात्र आकृष्ट करते हैं जो बाहर से बहुत कर्मशील हैं किन्तु अन्दर से विरक्ति की भव्य-भावना से आक्रान्त हैं। वे आदर्श पात्र सदा सत्य का पक्ष ग्रहण करते हैं। 'विशाख' का प्रेमानन्द, 'राज्यश्री' का दिवाकर 'नागयज्ञ' का वेदव्यास, 'अजात' का बुद्ध एवं 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य—सब इसी कोटि के पात्र हैं। इसके विपरीत एक वर्ग उन पात्रों का भी है जो बाहर से विरक्त हैं किन्तु हृदय में आसक्ति एवं वासना की आँधी छिपाये हैं जैसे 'विशाख' के महन्त सत्यशील, अजात के समुद्रदत्त एवं 'नागयज्ञ' के काश्यप। एक एक श्रेणी है 'विशाख' के भिक्षु, 'राज्यश्री' के शान्ति भिक्षु, 'अजात' के विरुद्धक, 'स्कन्द' के भट्टार्क और 'चन्द्रगुप्त' के राक्षस पात्रों की। ये सब पात्र जीवन में बड़ा वेग भरे हैं। साथ ही हैं बड़े निर्भीक एवं साहसी। इनमें दिखलाई पड़ता है आवेग एवं स्पन्दन। इनके बिम्बसार, विशाख एवं स्कन्द—तीनों नायक एक विचित्र दार्शनिक उदासीनता से भरे डोलते हैं मानों जीवन का बोझ अब उतार कर फेंक देंगे।

कथाकार प्रेमचन्दजी ने भी बाजी बीती। इनके उपन्यासों में का एक वर्ग है। ये पिता पहले तो पुत्रों को क्रोध में त्याग देते हैं

विवाह हिन्दू-समाज का एक अत्यावश्यक अङ्ग माना गया है। किन्तु या प्रणय का अन्त विवाह ही हो सकता है? दोनों का उत्तर है, नहीं। क मार्ग और भी है। वह इससे श्रेष्ठतर है। हाँ, वह मार्ग सर्वसाधारण के ये नहीं। उसे तो दृढ़ पुरुष और सबल अबला ही अपना सकती हैं। से तो देवसेना जैसी स्वर्गीय आत्मा और मिस मालती (प्रेमचन्द का गोदान) सी विदुषी स्त्री ही ग्रहण कर सकती हैं। स्कन्द की प्रेम याचना का उत्तर देवसेना देती है—आपको अकर्मण्य बनाने के लिये देवसेना जीवित हेगी! सम्राट क्षमा हो। "वह कामना के भँवर में न स्वयं फँसती है न कन्द को फँसने देती है। देश को स्कन्द की आवश्यकता है। वह उसे कैसे एक कोने में छिपाये रक्खे। यही मालती ने कहा—अभी तक तुम्हारा जीवन प्रश था, जिसमें स्वार्थ के लिये बहुत थोड़ा स्थान था, मैं उसको नीचे की ओर न ले जाऊँगी।" इसके बाद डा॰ मेहता एवं मिस मालती प्रणयों की मौनभाषा में आसक्ति का तार भेजते हुये भी कौमारव्रत ले केवल जीवन साथी के रूप में एक दूसरे के सहायक बनते हैं, देशोद्धार के लिये, पर सेवार्थ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों महान् कलाकारों में बड़ा भारी साहश्य है, यद्यपि हैं ये भिन्न-भिन्न मार्ग के पथिक। दोनों आदर्शवादी कलाकार हमारे हिन्दी गगन के सूर्य चन्द्र हैं जिन पर हमें गर्व है।

विवाह हिन्दू-समाज का एक अत्यावश्यक अङ्ग माना गया है। किन्तु प्रणय का अन्त विवाह ही हो सकता है? दोनों का उत्तर है, नहीं। एक मार्ग और भी है। यह इससे श्रेष्ठतर है। हाँ, वह मार्ग सर्वसाधारण के लिये नहीं। उसे तो दृढ़ पुरुष और सबल अबला ही अपना सकती हैं। उसे तो देवसेना जैसी स्वर्गीय आत्मा और मिस मालती (प्रेमचन्द का गोदान) जैसी विदुषी स्त्री ही ग्रहण कर सकती हैं। स्कन्द की प्रेम याचना का उत्तर देवसेना देती है—आपको अकर्मण्य बनाने के लिये देवसेना जीवित रहेगी! सम्राट क्षमा हो। "वह कामना के भँवर में न स्वयं फँसती है न स्कन्द को फँसने देती है। देश को स्कन्द की आवश्यकता है। वह उसे कैसे एक कोने में छिपाये रक्खे। यही मालती ने कहा—अभी तक तुम्हारा जीवन यज्ञ था, जिसमें स्वार्थ के लिये बहुत थोड़ा स्थान था, मैं उसको नीचे की ओर न ले जाऊँगी।" इसके बाद डा० मेहता एवं मिस मालती प्राणों की गौनभाषा में आसक्ति का तार भेजते हुये भी कौमारव्रत ले केवल जीवन साथी के रूप में एक दूसरे के सहायक बनते हैं, देशोद्धार के लिये, पर सेवार्थ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों महान् कलाकारों में बड़ा भारी सादृश्य है, यद्यपि हैं ये भिन्न-भिन्न मार्ग के पथिक। दोनों आदर्शवादी कलाकार हमारे हिन्दी गगन के सूर्य चन्द्र हैं जिन पर हमें गर्व है।

हैं, तथापि निबन्ध में आपेक्षिक दृष्टि से विचार-तत्व की प्रधानता—
ा साहित्य की अन्य विधाओं से पार्थक्य सिद्ध करती है।

निबन्ध की अन्य प्रमुख विशेषताओं में—प्रयत्नशीलता, वैयक्तिकता,
ाता, स्वतन्त्रता आदि हैं। स्वतन्त्रता से हमारा आशय विचारों की
छृंखल अभिव्यञ्जना से नहीं—प्रत्युत प्रतिपाद्य विषय पर अपने मौलिक
से सोचने, विचारने एवं उसे अपनी निजी अभिव्यञ्जना-प्रणाली से
भिव्यक्त करने में हैं—जिसे हम पारिभाषिक पदावली में 'शैली' कहते
वस्तुतः निबन्ध में भाव-प्रेषणीयता नितान्त अनिवार्य है। भावप्रेष-
यता का अर्थ है, आत्माभिव्यञ्जन की सफलता और इसके लिये लेखक
ं पाठक में पूर्ण तादात्म्य की आवश्यकता है। इस तादात्म्य अथवा
र्क-स्थापन का माध्यम है, शैली। अतः शैली निबन्ध का सर्वाधिक
निवार्य गुण है, क्योंकि शैली के द्वारा ही लेखक अपने निबन्ध में
क्तिक तत्व (Personal element) और मानवीय तत्व (Hu-
an element) को अभिव्यक्त करता है। कहानी, उपन्यास आदि
शैली इतना प्रमुख तत्व नहीं क्योंकि उनमें तो भावाश की प्रधानता होने
लेखक का व्यक्तित्व अन्यथा भी पहचाना जा सकता है, किन्तु निबन्ध
क विचार प्रधान रचना होने से इसमें लेखक का व्यक्तित्व तलस्पर्शी रहता
अतः निबन्ध में लेखक के भावनात्मक पक्ष को प्रस्फुटित करने का शैली
एकमात्र साधन है।

निबन्ध के वैयक्तिक तत्व से हमारा आशय उस अंश से है, जिसके
ारा हम लेखक के व्यक्तित्व को अर्थात् उसके भावात्मक पक्ष को सरलता से
ख सकते हैं। अतः निबन्ध का वह तत्व जिसके द्वारा हम लेखक के साथ
क प्रकार के भावात्मक साहचर्य का अनुभव करते हैं—वैयक्तिक तत्व
हलाता है। तद्विपरीत मानवीय तत्व के सहारे लेखक अपने वर्ण्य विषय
ो सबकी पठनीय वस्तु बनाता है, क्योंकि मानवीय तत्व सभी का सम्यक्
प से अनुभूति का विषय होता है। निबन्ध के ये दो अतीव अनिवार्य
त्व हैं।

ही साथ ही इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने इन मानवीय मावों अथवा मनोविकारों—प्रेम, लोभ, ईर्ष्या, करुणा, भय, क्रोध आदि वृत्तियों को शुद्ध मनः शास्त्र के चश्मे से न देखकर साहित्य के स्थायी भावों के रूप में देखा है। एवं साहित्य का जीवन से अभिन्न सम्बन्ध है। फलतः इन निबन्धों को लिखते समय उनकी दृष्टि बराबर जीवन पर ही केन्द्रित रही—मनोविज्ञान के ग्रन्थों पर नहीं। उन्होंने इन वृत्तियों का अपने प्रत्यक्ष जीवन में ही अनुभव किया। एवं उसी अनुभव के आधार पर इनकी मीमांसा की है। दूसरे शब्दों में उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर ही इन वृत्तियों की मीमांसा कर जीवन को समझने का प्रयास किया है। यही कारण है कि इनमें हमें अन्तः निरीक्षण, एवं बाह्य निरीक्षण का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनके मनोभावों अथवा मनोविकारों का उद्गम स्थान मनः शास्त्र के विस्तृत ग्रन्थ नहीं—प्रत्युत प्रत्यक्ष जीवन का कर्मक्षेत्र है एवं जीवन के इसी विशाल वाङ्मय में कर्म सौन्दर्य के बीच बिखरे हुये सूक्ष्म भाव-तन्तुओं को लेकर उन्होंने जीवन के ही समष्टि रूप कलेवर को समझने का प्रयास किया है। यही कारण है कि हम इनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों को एकान्ततः मनःशास्त्र की वस्तु कहकर टाल नहीं सकते। मनोशास्त्र के शुष्क सिद्धान्तजाल से गुम्फित एवं समाच्छन्न नहीं प्रत्युत प्रत्यक्ष जीवन की ही अनुभूतियों के स्पन्दन से अनुप्राणित हैं। शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों की यह एक बड़ी भारी विशेषता है जो इन निबन्धत्व को कभी संदिग्ध नहीं होने देती।

२—भारतीय शास्त्र के प्रति अनन्य आस्था—वस्तुतः शुक्लजी के निबन्ध उनके गम्भीर अध्ययन, गहन मनन एवं मौलिक आत्म चिन्तन के परिण[ाम] हैं। उन्होंने अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से ही विविध विषयों की मीमांसा [की] है। तथापि उनके सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी निबन्धों की—जिन उन्होंने काव्य शास्त्र की दृष्टि से विचार किया है—सर्वाधिक विशिष्टता यह है कि उन्होंने इन निबन्धों में जो आदर्श प्रतिष्ठित किया वह सर्वथा भारतीय शास्त्र से सम्मत एवं भारतीय आदर्श भावना पर [.

४—एक प्रकार की प्रबल प्रेरक शक्ति अथवा भाव-प्रेषणीयता:—
यदि शुक्लजी के निबन्ध—जैसा कि हम कह आये हैं—इनके गहन
अध्ययन मनन एवं चिन्तन के परिणाम हैं—किन्तु इनकी सर्वाधिक
विशिष्टता अपने संचित ज्ञान को एक अत्यन्त प्रभावशाली शैली द्वारा
अभिव्यक्त करने में है। क्योंकि यों तो हमें शुक्ल जी से कहीं अधिक सूक्ष्म-
दर्शी एवं मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण करने वाले लेखक हिन्दी
साहित्य में मिल सकते हैं—तथापि उनकी सी समर्थ अभिव्यञ्जना शक्ति
के परवर्ती निबन्ध लेखकों में नहीं मिलती। उनमें एक ऐसी प्रेरक शक्ति
है कि हम उनके सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिये सहसा प्रवृत्त हो जाते
हैं—और इसी में निबन्धकार की सफलता है। अपने मनोवैज्ञानिक निबन्धों
को भी अपनी अपूर्व व्यञ्जना शैली द्वारा उन्होंने अत्यन्त सरल, सुबोध एवं
सहज ग्राह्य बना दिया है। दुरूह विषयों की विवेचना करते समय उन्होंने
बहुत छोटे एवं सारगर्भित सूक्ति वाक्यों का प्रयोग किया है। जैसे—

"भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।"

"बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"

अतः भाव प्रेषणीयता की दृष्टि से इन निबन्धों की शैली अत्यन्त सफल
है। इनकी इसी प्रेरणा शक्ति के कारण इनका स्थान निबन्ध साहित्य में
सर्वोपरि रहेगा। उनकी शैली अत्यन्त प्रभावशाली (Impressive) एवं
विश्वसनीय (Convincing) तो है ही—साथ ही उसमें एक प्रकार की
विशेष शालीनता (Grandeur) भी है।

५—वैयक्तिक तत्व एवं मानवीय तत्व:—निबन्ध के ये दो अतीव
महत्वपूर्ण तत्व हैं जो निबन्धकार की शैली द्वारा प्रकट होते हैं। वैयक्तिक
तत्व (Human element) का सम्बन्ध लेखक के व्यक्तित्व के
प्रकाशन से है एवं मानवीय तत्व (Human element) के
अन्तर्गत वह सब कुछ आ जाता है जो सबका समान रूप से अनुभूत का
विषय (Matter of Common Experience) बन सकता है।

भ्रमरगीत की परम्परा में 'उद्धवशतक' का स्था

व्यास के हृदय में जो गोपी रोती थी वह रोती रही। सूर, नन्द
रहीम, तुलसी, मतिराम, देव, पद्माकर, भारतेन्दु, रत्नाकर, सत्यनारायण
मैथिलीशरण गुप्त और रसाल तक आते-आते उसके अश्रु न थमे, स्यात
प्रालेय जल के रूप में वही अश्रु परिवर्तित हो जायें।

कृष्ण काव्य में भ्रमरगीत को इतना महत्व मिला। क्यों? अपनी
मनोवैज्ञानिकता के कारण, वह क्या है? जो स्थल अधिक से अधिक मनो
वेगों को झकझोर सकता है, काव्य के लिये वह उतना ही उपयुक्त मान
जाता है। रसराज शृङ्गार की परम्परा में, विप्रलम्भ की महिमा रही है
वैष्णव कवियों में ज्ञान के ऊपर भक्ति व प्रेम की विजय दिखलाना एव
मुख्य प्रवृत्ति ही बन गई थी, सपत्नीभाव के अभिशाप का वर्णन तथा पुरुष
की मधुप वृत्ति रीतिकाल में प्रधान रही और इस प्रकार प्रत्येक युग ने
अपने अनुकूल भ्रमरगीत को ढाला किन्तु जहाँ तक आत्म-विभोरता, वियोग
जनित तन्मयता या केवल संवेदना के ग्रहण का प्रश्न था वह प्रत्येक युग के
सहृदय कवियों ने ग्रहण किया, भ्रमरगीत इसीलिये कोरा वितण्डावाद नहीं
बन पाया और यह साहित्य का सौभाग्य था।

सम्पूर्ण भ्रमरगीत-साहित्य को मानसिक पटल पर चित्रित कर लेने प
ही हम 'रत्नाकर' के उद्धवशतक का महत्व समझ सकते हैं क्योंकि इस लेख
के विषय वही हैं। जो सूत्र भागवत से प्रारम्भ हुआ सूर ने उसे पकड़ा
विरह-काव्य का सृजन कर उस महाकवि ने इस क्षेत्र में भी प्रायः

कर्दम हैं न उपालम्भों की वह प्रहारिणी शक्ति। विरह की यह कविता इसी-लिये फूट कर न रो पाई और मार्मिकता का भी उसी सीमा तक अभाव रहा। किन्तु 'मर्यादा पुरुषोत्तम' का भक्त तुलसी यदि गोपी को भी मर्यादा का रूप न देता तो और कौन देता। एक स्थविर-शांति हम तभी तुलसी की गोपी में पाते हैं।

रहीम को विरह-विह्वल हृदय मिला था। अतः वेदना की पुञ्जीभूत ज्वाल हम रहीम की गोपी में पाते हैं। अलङ्कारों के चमत्कार के स्थान पर 'रहीम''ने तीव्र विरहानुभूति में गला कर अपने प्रसिद्ध बरवै लिखे—

घेर रह्यो दिन रतियाँ–विरह बलाय।
मोहन की वह बतियाँ, ऊधौ हाय॥

'अश्रुपूर्ण तुतलाहट' रहीम ने दी।

आलङ्कारिक कवियों में हमें मतिराम, देव, बिहारी आदि के भ्रमरगीत सम्बन्धी पद प्राप्त होते हैं। मतिराम में उनके स्वभावानुकूल अधिक सरसता है तथापि सूर व रहीम का विरह सम्बन्धी दिग्दाह यहाँ नहीं, अलङ्कारों की धूम आवश्यक है, वाक्चातुर्य द्वारा अनभ्र वज्रपात भी कराया गया है किन्तु न तो वस्तु की दृष्टि से कोई नवीनता है न अभिव्यक्ति की दृष्टि से हाँ असूया भाव के लिए 'कुब्जा' जैसा पात्र प्राप्त हो जाने के कारण उपालम्भों, व्यंग्यों, कटूक्तियों के विशाल झाड़-झङ्खाड़ अवश्य काव्य वन में उग आते हैं। मतिराम व देव में अपेक्षाकृत सरसता है—

मनु मनिका है हरि हीका गाँठ बाँध्यो हम—
तिन्हैं तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को।
कूबरी सी अति सूधी बधू को—
मिल्यो वर देव जू स्याम सो सूधौ। 'देव'

पद्माकर को इस प्रसङ्ग में केवल उद्दीपन वर्णन करने की सामग्री दिखाई पड़ी। 'कुब्जा जनित ईर्ष्या' पर उनका काव्य अरण्य-रोदन

करता रहा । सेनापति को श्लेष की सामग्री प्राप्त हो
छार्टों के उदाहरण देने का बहाना मिला ।
भी इस प्रसङ्ग पर उन्होंने 'चावल' छोड़कर
भाव छोड़ कर चमत्कार का चाव उन्हें एक
युग के नव उन्मेष-क्षितिज पर भारतेन्दु ने
करुण-प्रसङ्ग को भी ध्वनित किया—

एक जो होय तो ज्ञान सिखाइये
कूप ही में यहाँ

सूर की विरहानुभूति परम्परा में रीतिकाल
भागवत की परास्त गोपी, सूर की वदन्ती गोपी
कर केवल कुब्जा विषयक ईर्ष्या के गरल में
कवियों के हाथ में पड़कर जैसे 'ऊधो' के
कुब्जा को गाली देने लगी थी ।

भारतेन्दु में उसका प्रकट रूप पुनः
'सूर' के पदों के आगे अपना व्यक्तित्व
अभिव्यक्ति की भिन्नता के कारण उनका रूप

लोक परलोक छाँड़ि, लाज सौं
उघरि नची हौं तजि

'सत्यनारायण कविरत्न' ने अब तक
दिशा में प्रवाहित कर दिया । ज्ञान व प्रेम
का प्रतिद्वन्द्व, गोपी व कृष्ण का प्रतिद्वन्द्व,
द्वन्द्व जैसे निर्मूल हो कर प्राचीन-भारत
का सत्यन अमरजीत बन कर आया ।
था । परन्तु परम्परा से कभी महत्ता हट न
का प्रवेश कराना, यशोदा का विरह
की ठोकर से ब्रज हो कर आनन्द

यदपि सकल विधि ये सहत, दारुन अत्याचार।
पै नहिं कछु मुख सों कहत, कोरे बने गँवार॥
कोउ अगुआ नहीं।

या—

अब की गोपी मदभरी—अधर चलैं इतराय।
चार दिना की छोकरी—गईं ऐसी गरबाय॥

जहाँ देखो तहाँ हरिऔध के 'सूर' व 'सत्यनारायण' दोनों
को लेकर चले। किन्तु वर्तमान समय पर विचार प्रकट न कर
आदर्श रूप रक्खा, राधा के मुख से ज्ञान की चर्चा सुन कर उद्
पद वन्दन करते हैं।

चुप हुईं इतना कह मुग्ध हो—ब्रजविभूति-विभूषण राधि
चरण की रज ले हरिबंधु भी—परम शांति समेत विदा हुये

उक्त हरिऔध के उद्धव तथा भागवत के विनयी उद्धव
करिये! कितना महान अन्तर है!

गुप्तजी हरिऔध के समान आगे न बढ़ कर पीछे लौटे।
गुप्तजी के उद्धव एक व्यवहार कुशल व्यक्ति के रूप में दिखाये
यहाँ उद्धव गोपियों की प्रशंसा भी करते हैं। किन्तु ज्ञान का
बना हुआ है—

राधा हरि बन गईं, हाय यदि हरि राधा बन जाते।
तो उद्धव, मधुबन से उलटे, तुम मधुपुर ही जाते।

'नन्ददास' का आधुनिक संस्करण गुप्तजी की गोपियाँ हैं, वा
सुन्दर! राधा को अवश्य गुप्तजी ने नवीन महानता दी है, सीता

'रत्नाकर' के उद्धव शतक के पूर्व उपर्लिखित साहित्य कवि
था। किन्तु कवि पर रीतिकाल का प्रभाव होने के कारण उसने
को मौलिक रूप में लिया। सत्यनारायण, हरिऔध या गुप्तजी

उसमें आनुषङ्गिक रूप से भी परिवर्तन नहीं किया।
नवीनता दी—

(१) कृष्ण का वियोग-वर्णन रत्नाकर ने सबसे
वतकार, सूर, नन्द, आदि किसी कवि ने ... उप-
यों कृष्ण विरह से प्रभावित अवश्य थे परन्तु ..
समान ही विरह वाड़व से पीड़ित हैं। यमुना स्नान
कर उन्हें राधा का विस्मरण हो आ रहा है और
काव्य का यह उद्‌घाटन भी नवीन और मौलिक है
छन्दों में उन्होंने कृष्ण की विरह-वेदना व्यक्तित

(२) रत्नाकर की दूसरी विशेषता है प्रबन्ध ...
सूर व नन्द में भी केवल मुक्तक कविता है किन्तु
कमल को देखकर मूर्च्छित होना, उद्धव द्वारा ..
का ब्रज में भेजा जाना, वार्तालाप के पश्चात् ..
आदि वर्णनों द्वारा कवि ने घटना की गम्भीरता
के लिए सुगमता उत्पन्न कर दी है। यही कारण
पमता अधिक है।

(३) कवि की तीसरी विशेषता है राधा,
से दूर रखना। केवल मौन राधा बाँसुरी की
किन्तु जिह्व नहीं खोलती। राधा व यशोदा
'घुनइन' के रूप में ही रखा है। हम उन्हें
पाते हैं। व्यथा का यह चित्र अनूठा है। "ता
का जो चित्र सूर ने दिया है उससे
स्पृहणीय है।

(४) हरिऔध ने कृष्ण को लोक सेवक
किन्तु मुसकाने अधर" के रूप में दिखाया है
राज्य छोड़ देने को प्रस्तुत हैं—'मू मार हरन'

गोरी ग्वाल बालनि की भौंक विरहानल में—
हरी सुर वृन्द की बलाइ बरि हैं कहा।

रत्नाकर के कृष्ण में 'सुनार' अधिक है 'सुधार' कम। वे "मतङ्ग लौ मतारे" हुये मध्य युग के रङ्गीन ईश्वर हैं।

(५) रत्नाकर की एक विशेषता है सङ्कलन बुद्धि की। कवि पर रीतिकाल का प्रभाव अधिक है, परन्तु भक्ति का आवेश उसकी रीतिकालीनता के आवरण में "जन नादर के दीप" के समान झलमलाहट छोड़ रहा है। उसमें सूर का प्रवाह, आवेग, तन्मयता, नन्ददास का तर्क और बिहारी-पद्माकर का वाग्वैचित्र्य एवम् अलङ्करण की प्रवृत्ति है, अतः उसके "काव्य कर्मोंच" में : लकृति व भावुकता के दुहरे धागे हैं जिनको हम कुछ छन्दों में अवश्य अलग-अलग देख सकते हैं किन्तु अधिक छन्दों में उनका सामञ्जस्य ही मिलता है। जैसे काव्य धनुष की दो कोटियाँ हों एक में भक्तिकाल की उब-डूब और दूसरी में रीतिकाल की शब्द मैत्री, फड़क, रूपक-श्लेषमयी अभिव्यञ्जना, बहुज्ञता, भमसाध्य काव्य-की पचीकारी एवम् वक्रोक्ति हों; और ये दो कोटियाँ मिल कर रत्नाकर के हाथ में एक हो गई हों। जैसे हाथ ढीला कर देने पर दोनों कोटियाँ बड़े वेग से अलग अलग हो जाती हैं उसी प्रकार रत्नाकर के कवित्त के विश्लेषण करने पर भक्ति व रीतिकाल दोनों अलग-अलग मुस्कराते हुये दृष्टिगोचर हो जाते हैं। जिस प्रकार धनुष की दोनों कोटियों को एक साथ पकड़ना कठिन है उसी प्रकार रत्नाकर के कवित्तों का निर्माण दुःसाध्य है। उच्चकोटि की साधना से ही बाह्य कला का इतना उत्कर्ष आ सकता है। सूर के समान वह केवल भाव-तरङ्गों की अभिव्यक्ति नहीं है अपितु उसमें एक सजग कलाकार के श्रम की भी करामात है।

उद्धव-शतक भ्रमरगीत-साहित्य का रत्न है। इसमें मुक्तक में प्रबन्ध और प्रबन्ध में मुक्तक है। ब्रजभाषा का अत्यन्त साहित्यिक रूप उसमें दर्शित है। सांग रूपकों का वहाँ चमत्कार है, गोपियों के तर्कों व चेष्टाओं में

बिहारी की वाग्विदग्धता एवम् अनुभव योजना भी
बली के प्रयोग में पद्माकर व देव विस्मृत से लगने
की दृष्टि से कई प्रयोग नवीन हुये हैं तथापि
के अन्तर-स्थित भाव की वह अविच्छिन्न धारा
पर प्रत्येक अलङ्कार, प्रत्येक चमत्कारमयी युक्ति
शत संवेदनों की लपेट में बद्ध कर देती हैं।
'उद्धवशतक' की आत्मा रस है, शरीर शब्द
आभूषण। भागवत का विन्दु जो सूर ने सागर
और जो रीतिकालीन में शुष्क हो गया था,
रत्नाकर के रूप में पुनः लहरा उठा है।

हिन्दी का पहला शृङ्गारी कवि : उसका महत्व

अनेक पुष्ट प्रमाणों के आधार पर मैं विद्यापति को हिन्दी साहित्य का सर्व प्रथम शृङ्गारी कवि मानता हूँ । कुमार स्वामी ने उनके राधाकृष्ण सम्बन्धी पदों को ईश्वरोन्मुख सिद्ध करने की चेष्टा की, जनार्दन मिश्र ने उन्हें रहस्यवादी लिखा है और कुछ विद्वानों की दृष्टि में वे निंबार्क, विष्णु-स्वामी से अन्य भक्तों की तरह प्रभावित हैं । तत्सम्बन्धी उद्धृत पदों में संसार की नश्वरता, अपना दैन्य, ईश्वर के प्रति अनन्य निष्ठा वन्दना आदि बातें भी खोजी जा सकती हैं ।

१—"तातल सैकत वारि बिन्दु सम,
सुत मित रमनि समाज"
"अनेक जनेक धन पाप बटोरल,
मिल मिल परिजन खाय"
२—"माधव हम परिनाम निरासा,
तुह जग तारन दीन दयामय,
अन्य सोहर विश्वासा"
"तुम सम अधम उधर नहिं दूसर,
हम सन जग नहिं पतिता"
३—"तुह पद परिहर पार पयोनिधि,
तारब कओन उपाय ।" आदि । उनकी प्रसिद्धि

बहुत कुछ कारण महाप्रभु चैतन्य द्वारा उनका पद कीर्तन भी

इसी प्रकार सम्भोग में यदि मतिराम का नायक 'लैला' दिन में ही घात लगाता है तो विद्यापति के आदर्श राधाकृष्ण को सुबह हो जाने का भी ध्यान नहीं, दूतियों को भी जगाना पड़ता है! दोनों चित्र एक से हैं। इनमें न तो कुछ रहस्य ही है, न भक्ति-भावना ही। खुला हुआ शुद्ध शृङ्गार है। यही पद विद्यापति की कविता का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। भक्ति कैसे मानी जाय? तब तो सारे रीतिकार भक्ति की पावन गङ्गा में स्नान करते हुए दिखाई पड़ेंगे! वैयक्तिक दृष्टि से भी विद्यापति की रुचि शृङ्गार की ओर थी, इस कारण संस्कृत ग्रन्थों तक में उन्होंने नीति आदि के उपदेश शृङ्गार के सहारे दिये हैं।

दो पदों को रहस्यवादी कहकर उद्धृत किया जाता है—

१—"कर धक मक मोहे पारे, देव मैं अपुरुब हारे
हम न जायब तुम पासे, जायब औघट घटे कन्हैया""

२—"एक ही पलँग पर कान्ह रे,
मोर लेख दुर देश भान रे।"

पहले में एकान्त अभिसार का संकेत है, दूसरा पद मान सम्बन्धी है। इन्हें आध्यात्मिक रङ्ग के चश्मों से देखना अनुचित है। सांकेतिक अर्थ खोजना *अर्थ की खींचातानी है और प्रत्यक्ष सत्य की अवहेलना करना है।*

रहा राधा-कृष्ण का नाम जो कुछ संशय में डालता है। यदि विद्यापति की रचना के मूलाधार का विश्लेषण किया जाय तो इसका भी निराकरण हो जाता है। वे जयदेव के गीत गोविन्द से प्रभावित हैं वही संकेत, अभिसार उनके भी हैं। नाम राधा कृष्ण का है। हरि का स्मरण तो विलास-कला-कुतूहल पहले से ही होने लगा था उसी आधार पर विद्यापति भी चले। ये पद भी मनोरञ्जन के लिये थे, भक्ति प्रेरित उद्गार नहीं थे। प्रत्येक पद के अन्त में राजा शिवसिंह, लखिमादेवी का उल्लेख इसका स्पष्ट प्रमाण है, उनको दरबार को प्रसन्न करने के लिये इनकी रचना हुई। भक्त के उपयुक्त तल्लीनता का भी इनमें पता नहीं। और राधा-कृष्ण तो शृङ्गार के देवता

ही हैं जैसा कि डा० उमेश मिश्र ने स्पष्ट ...
रस के कवि थे और शृङ्गार के अधिनायक ...
माने जाते रहे ।"

जिस प्रकार 'रामचन्द्रिका' लिख ...
सकते, "मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि ...
भी बिहारी को भक्त नहीं माना ...
र विद्यापति भी भक्त नहीं हैं। इनके दो
ने लिखे हों, पर यह मूल प्रवृत्ति नहीं थी। (२)
उपरान्त बीच-बीच में स्वभावतः ही वैराग्य
री दृष्टि से तो दूसरा कारण ही समीचीन ...
ावना भी उनके शृङ्गार का ही एक अङ्ग थी।

इस प्रकार निश्चित रूप से विद्यापति ...
ने पहला उन्हें इसलिये कहा है कि उनके पूर्व ...
प से काव्याङ्गों का, रीति भेद का, दूती नायि...
धान किसी कवि ने नहीं किया। पुष्प का ...
सने कोई पुस्तक लक्षण आदि पर लिखी भी ...
। अपभ्रंश में, उसके उदाहरण भी हिन्दी के नहीं
। भाषा हिन्दी के अन्तर्गत निश्चित ही ली जा ...
म्परा व संस्कृति की दृष्टि से भी ये हिन्दी के ...
'रासो' जिसमें यत्र तत्र नख-शिख के चित्र हैं तो
कालीन ग्रन्थ होना ही अप्रामाणिक है, दूसरे ये ...

अतः हिन्दी के इस पहले शृङ्गारी कवि का ...
है। रीतिकालीन सम्पूर्ण काव्य पद्धति व विषयों
रचनाओं में मिलता है। मान, स्वप्नपत्र, दूती
ी है, सारा काव्य ही उनकी सीमा में बंध गया है
मूल में विद्यापति हैं। बारहमासा, नख-शिख, दोनों

हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन काव्य पर बहुत कुछ लिखा गया है, ध्यान रखना है इसकी जड़ विद्यापति के काव्य में है । रीतिकारों ने राधा-कृष्ण आलम्बन भी विद्यापति से ही प्राप्त किए।

दूसरी ओर इन्होंने भक्त कवियों को प्रभावित किया । काव्यपद्य में अलङ्कार-विधान, वर्णन-विधि सूर आदि ने विद्यापति से पाई । विद्यापति के दृष्टिकूटों में तो यह प्रभाव बिलकुल स्पष्ट है। विद्यापति के दृष्टिकूट दो प्रकार के हैं। यही सूर काव्य में विकसित हुए—

(१) जहाँ श्लेष बल से चमत्कार लाने की चेष्टा है । विद्यापति ने जो चर्चा "माधव की कहब सुन्दरि रूपे" में की है वही सूर ने "अद्भुत एक अनूपम बाग" में—

विद्यापति—

"पल्लव राज चरन जुग सोभित गति गजराजक माने ।
कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने ॥"

सूर—

"जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग"

विद्यापति—

"मेरु उपर दुइ कमल फुलायल, नाल बिना रुचि पाई"

सूर—

"हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर,
गिरि पर फूले कंज पराग"

(२) जहाँ गणित का प्रयोग हुआ है—

विद्यापति—"तुअ बिन करय भुवन रितु पान"

भुवन=१४, ऋतु=६, १४+६=२०=विष

सूर—

"वेद नखत ग्रह जोरि अरध करि सोइ बनत अब खात"

वेद=४, नक्षत्र=२७, ग्रह=९, ४+२७+९=४० ÷ २=२०=विष।

चार से विद्यापति की परम्परा में हैं। दोनों के प्रकट होने की परिस्थितियाँ
ो समान हैं। भक्त कवियों के राधा-कृष्ण अवश्य उनसे भिन्न हैं पर उनके
म्मुख विद्यापति का आदर्श था अवश्य; यह उनकी मर्यादा थी कि इतने
आकर्षक पत्र-विशेष के सामने होने पर भी उस पर वे चले नहीं किन्तु कुछ
समय पश्चात् भक्ति-भावना के दब जाने पर वह अवरुद्ध शृङ्गार-धारा पूरे
वेग से फूट कर सारे हिन्दी काव्य में फैल गई।

उद्धवशतक में भक्ति

ब्रज-भाषा पर प्रभुत्वतः कवियों का
साहित्य में विलक्षण प्रतिभा तथा
बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' को। यह
अलङ्कारों का स्वाभाविक तथा
मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों की पूर्ण
पहले और अकेले ही कवि थे।

प्रत्येक कवि का अपना विशिष्ट
ढंगों में रमकर वह अपने जी की बातें
अभिव्यक्ति भाषा और शैली पर
का भाषा पर पूर्ण और
है तो उसके द्वारा वर्णित बातों में
रत्नाकरजी ब्रज-भाषा के आचार्य माने
अधिकार है। परन्तु उद्धव शतक
सकता है कि रत्नाकरजी ने दो शैली
और दूसरा रीतिकाल। आप के
अभिव्यक्ति-प्रणाली रीति-कालीन।
आचार्य प्रवर बा॰ गुलाबराय जी
भाव की आत्मा के लिये रीति
स्वीकार किया है।"

उद्धव-शतक की कथा यद्यपि लोक प्रसिद्ध एक संभ्रान्त परिवार से सम्बन्धित है फिर भी वह एक प्रबन्ध काव्य की कोटि में नहीं रखी जा सकती। वह प्रबन्ध और मुक्तक का सुन्दर सामञ्जस्य है। उसके प्रत्येक पद में अपना निजीपन है। घटना विशेष के होते हुए भी वे एक दूसरे पर आधारित नहीं हैं। वे पूर्ण स्वतन्त्र हैं और यह स्वतन्त्रता हमारे जी में रसोद्रेक के समय बाधक नहीं साधक के रूप में ही काम करती है।

भक्ति-काल की प्रमुख विशेषता एवं उद्देश्य भक्ति की प्रधानता ही है। भक्ति निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों में की जाती है। उद्धव-शतक में गोप-गोपियाँ निर्गुण भक्ति का एक मत हो खण्डन और मण्डन करती पाई जाती हैं—सगुण भक्ति का। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या उद्धव-शतक में भक्ति-काल का सन्देश ही चर्चित है। यह तो उसका आधार ही है। उद्धवजी के सन्देश को क्यान् तीखे व्यङ्गों द्वारा खण्डित किया जाता है और फिर सगुण भक्ति का मण्डन कथा के साथ विनय के साथ किया गया वर्णित है।

रीतिकालीन प्रवृत्तियों का उल्लेख करते समय भाषा, अलङ्कार, तथा शैली पर ध्यान दौड़ जाता है। 'उद्धव शतक' की भाषा ब्रज भाषा है। उसमें अलङ्कारों का प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है। परन्तु अन्य अनेक रीतिकालीन कवियों की भाँति केवल अलङ्कारों की अभिव्यक्ति के लिए ही काव्य का सृजन किया जाय ऐसी बात उद्धवशतक में नहीं दिखाई देती। भावोत्कर्ष, भावानुभूति की व्यञ्जना एवं रसोद्रेक में पूर्ण सहायक के रूप में शुद्धतम तथा स्वाभाविक रीति से अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। यह रत्नाकर जी की अलङ्कार विधान वाली भव्य एवं नव्य प्रणाली श्लाघनीय है। इनकी शैली में सजीवता है। स्वाभाविकता के साथ-साथ नाटकीयता का प्रचुर प्राधान्य है। अतः पं० रामशङ्कर शुक्ल ने उद्धव शतक को मूर्त काव्य (चित्रोपम) भी कहा है।

अब प्रत्येक क्षेत्र की प्रमुख छाप जो उद्धव-शतक पर पड़ी है, उसका सिंहावलोकन करना इस सूक्ष्म विवेचन का उद्देश्य है। 'उद्धव शतक' की

कथा का प्रवाह उस घटना से चलता है जब श्रीकृष्णजी यमुना में
... ओर वहाँ प्रिय राधा के समान वर्ण वाले अर्ध कुम्हलाए
... प्रेम विह्वल हो जाते हैं और परम दार्शनिक उद्धव सखा
करने पर विह्वलता का कारण वर्णन करते हैं कि अचानक
... भर आता है। पवित्र और सच्चे प्रेम की अभिव्यक्ति अन्य क्या
है। यथा—

"गहबरि आयो गरो भभरि अचानक त्यों,
प्रेम परयो चपल चुचाइ पुतरीनि
नेकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी ।६.

उद्धव कृष्ण के संलाप के समय भक्ति की कितनी सरल
व्यञ्जना प्रस्तुत की गई है। यथा—

"आपु ही सौं आपको मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख दुख सब

जब उद्धवजी ब्रज में प्रवेश करते हैं उसी समय उन्हें
दर्शन प्रत्येक स्थल पर होने लगते हैं। ऐसा लगता है
सगुण भक्ति का उपासक रहा हो। यथा—

"गोकुल के गाँव की गली में पग पारत ही,
भूमि के प्रभाव भाव औरैं
ज्ञान मारतण्ड के सुखाए मनु मानस को,
सरस सुहाए घनश्याम क.

'रत्नाकरजी' ने यों तो अनेक प्रकार के अलङ्कारों .
परन्तु श्लिष्ट परिपुष्ट साङ्ग रूपक, उपमा, विरोधाभास,
अलङ्कारों का बाहुल्य सा प्रतीत होता है।
... कितना रमणीक उदाहरण प्रस्तुत ...

फिरत हुते जु जिन कुञ्जनि में आठौं याम,
नैननि में अब सोई कुञ्ज फिरबौ करैं।''

उद्धवजी भगवान श्रीकृष्ण से गोपियों की प्रीति की चर्चा करते हुए
पकड़ने की प्रक्रिया द्वारा वर्णन करते हैं। यथा—

''बात में लगे हैं ये दिवानी ब्रजवासी सबै,
उनके अनोखे छल छन्दनि छतौ नहीं।
बारन कितेक तुम्हैं बारन कितेक करैं,
बारन उबारन है बारन बनौ नहीं॥''

जिस समय उद्धवजी गोकुल में पहुँच कर नन्द के घर पर यह सूचना
हैं कि मैं कृष्णजी के द्वारा भेजा हुआ सन्देश लाया हूँ—उस समाचार
सुन कर यत्र-तत्र सर्वत्र ओर से गोपियाँ आ-आ कर उद्धवजी को घेर
हैं और विह्वलता पूर्वक पूछ उठती हैं—इस प्रश्न में नाटकीयता तथा
समता निखार रूप में प्रदर्शित की गयी है यथा—

''हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं।''

अलङ्कारों के अतिरिक्त कमनीय कहावतों का प्रयोग भी कुशलता के
किया है। ये सारे वाक्य उपक्रम भावानुकूल प्रयुक्त दृष्टिगोचर होते हैं
कुशल कवि की विशेषता है। ऐसा लगता है मानो अनायास ही प्रयोग
रहा है—प्रयोग के लिए पूर्वानुराग का प्रायः अभाव लगता है।

''दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा,
तुम सन ज्ञान कहा जानि कहिबौ करैं।''

उस सूक्ष्म विवेचनाधार पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि उद्धव-
में मञ्जु हृदय तथा कला का मणिकाञ्चन संयोग हुआ है। भाषा
नुकूल है। सरलता और चित्रोपमता उसके प्रधान गुण हैं। ब्रजभाषा
गुण के लिए चिर प्रसिद्ध है ही।

। और राम के अतिरिक्त प्राकृत जन का यश-गान नहीं किया। मीरा
-अवहेलना इसका ज्वलन्त प्रमाण है। भक्त सदा निवृत्ति से प्रभावित
। चित्त की शोधक वृत्तियाँ मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा उसका
र आन्दोलित करती रहती हैं। भक्त-कवि की रचना में सन्त-श्लाघा,
रक्ति तथा परमार्थ-चिन्तन प्रभृति विषयों के प्राधान्य से प्रासङ्गिक
सों का पर्यवसान अन्ततोगत्वा शान्त रस में ही होता दीखता है।
हाकवि देव ने अपनी 'प्रेमचन्द्रिका' में कहा है—

बानी को सार बखान्यो सिंगार,
सिंगार को सार किसोर किसोरी

शृङ्गारी कवि इसीलिए व्याल विनिन्दक कौशेय कुन्तलों की मसृणता,
ा सहज स्नेह-मेदुरता, गुलाब के नवलदल सी मुख प्रफुल्लता, सिंहिनी
कटि एवं मृणाल नाल सी उँगलियों की प्रतनुता में उलझ जाता है।
न सकने पर गज़ब की सफाई देता है—

आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई,
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है। —दास

भक्त कवि सृष्टि के सौन्दर्य में अपने आराध्य की कला और तन्मयता
नुभव करता है। समग्र सृष्टि में—स्वर्गिक विभूति के इस आकलन
आहरण में—उसका हृदय आनन्द-सुधा स्यन्दिनी धारा से अभिषिक्त
ता है। वह इस सौन्दर्य का उपभोग और आत्मसात् न करके उसकी
ना और नीराजना करता है।

इस लम्बे विषयान्तर-प्रकरण के हेतु क्षमा किया जाऊँ। घनानन्द जैसे
ही किसी कृती कलाकार को उसके कवित्त बनाते हैं। प्रायः कवि
र और वातावरण से प्रभावित होते हैं। ऐतिहासिक परिस्थिति और
ही माँग सेनापति को भक्त नहीं शृङ्गारी बनाने के लिए तुली हुई थी
विलास और श्री-समृद्धि की चपल चितवन से बचना कठिन

* देखिये *साहित्य-सन्देश अप्रैल १९५० में मेरे लेख* '
र प्रवृत्तियाँ' का प्रारम्भिक अंश।

न के प्रायः प्रत्येक कवि ने किसी न किसी रूप में
करने के हेतु प्राकृत जन गुणगान किया है।
यु' के अनुसार सेनापति उन्हीं के साथ पैर से पैर और कन्धे
ते हुए चले हैं और इसीलिए 'सूर वर्ली' को कृष्ण के सदृश
(क० रत्ना० तरङ्ग १ छं० ५६)

मानव शरीर के विविध रोगों की भाँति सेनापति में भी अन्य
साथ भक्ति-भावना विद्यमान थी। किसी व्यक्ति के शरीर में रोग
कीटाणु उस रोग को उभारने में समर्थ होते हैं, यद्यपि वे
शरीर में न्यूनाधिक रूप में विद्यमान रहते हैं। बराबर
भावना उसी प्रकार की प्रतीत होती है।

वाग्वैदग्ध्य और चमत्कार के चक्कर में पड़ कर किसी भी
कवि की भाँति सेनापति ने कहा था—

संख्या करि लीजै अलङ्कार हैं अधिक यामैं,
राखौ मति अधिक ऊपर सरस ऐसे साज कौं
सुनु महाजन चोरी होति चारि चरन की,
तातें सेनापति कहै तजि करि ब्याज कौं
लीजिए बचाइ ज्यौं चुरावै नाहिं कोई,
सौंपी वित्त की सी थाती मैं कवित्तन के राज

यहाँ पर दण्डी तथा भामह के सम्प्रदाय में दीक्षित
पाण्डित्य का—कहने भर को स्वाभिमान का—विक्रय करते
हैं। भक्तों की रचनाओं में सब कुछ है पर वे 'कोरे कागद
खाते हैं कि वे कुछ नहीं जानते। भक्त अपने भावों का
चाहता है। श्रद्धेय के प्रति सबको श्रद्धालु पाकर वह
तुलसी ने कहा है—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी,
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।

नृप किरीट तरुनी तनु पाई,
लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसहिं सुकवि कवित बुध कहहीं,
उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।*

सेनापति को डर है कि कोई उनके कवित्त-वित्त को चुरा न ले जाय अतः कवित्तन के रात्र को यह वाती संन्यस्त कर दी। नाम, रूप, गुण, शक्ति, विभूत, और ध्यान परा भूमिकाओं पर विहार करने वाला भक्त ऐसी बातें स्वप्न में भी सोच सकता है—ऐसा विश्वास नहीं होता। भक्त को भगवत् कृपा का बल होता है उसे प्रदर्शन से क्या प्रयोजन? 'सरस अनूप रस रूप धुनि' हुआ करे। कविता तीक्षन अमल बुद्धि वाले को सुगम और मूढ़न को अगम हो स्यात् भक्त ऐसा नहीं चाहता।

तुलसी ने 'भनिति' को सुरसरि सम और शृङ्गारी देव ने 'बानी पुनीत ज्यों देवधुनी', 'सील सनी सुकिता-छविता कविता' कहा है। सेनापति में प्रकृति शालीनता नहीं, शृङ्गारी कवियों जैसा स्वाभिमान (जिसमें दर्पाधिक्य है) और कबीर जैसा अक्खड़पन दृष्टिगोचर होता है। देव ने—

साहेब अन्ध, मुसाहेब मूक,
सभी बहिरी, रङ्ग रीफ को माच्यो

और घनानन्द ने—

पूँछ बिषान बिना पसु जे सु कहा घन आनन्द बानी बखानैं।

---

* न कर सको जन जन में मेरे विचार।
मेरी वाणी क्या तुझे चाहिये अलङ्कार। —पन्त

* Drive my dead thoughts over the universe.
× × ×
Scatter, as from an unextinguished hearth
Ashes and sparks, my words
among man kind —Shelley

कहा गा। ठाकुर को तलवार ही निकालनी पड़ी थी। इन सभी
यत्र-तत्र भक्ति परक रचना की है। पर क्या वे भक्त कवियों
आते हैं। सेनापति की रचना में देव, बिहारी, मतिराम, श्रीपति,
त्रिवेदी और पद्माकर जैसे कवियों के से शृङ्गारी मात्र विद्यमान
इन सब में प्रेम के पाँचों प्रकारों (सानुराग, सौहार्द, भक्ति,
कार्पण्य) का यत्र तत्र दर्शन होता है। शृङ्गार और भक्ति अङ्गी
प में इन सभी में विद्यमान है फिर इसी कक्षा के एक कवि
से किया जाय ? सेनापति को भक्त कवि सिद्ध करने वाले
सकते हैं कि सेनापति ने प्रथम तरङ्ग ही में गणेश वन्दना में कहा

तुम ही बताई कछू कीनी कविताई तामें,
होइ जोगताई, दुचिताई के सुभाइ कै
बुद्धि के विनाइकै, गुसाई कवि नाइकै,
सु लीजिए बनाइ कै कहत सिर नाइकै

इस प्रकार के मङ्गलाचरण और वन्दनाएँ अन्य ...
परन्तु भक्त कवि क्या स्त्री और उसके अङ्गों को लेकर इतना
करेगा ? यहाँ पर मैं कवि सेनापति को उत्कृष्ट कविता की
रहा हूँ अपितु उनके काव्य में उनके भक्त कवि को खोजने
रहा हूँ। और मैं क्षम्य गर्व के साथ शृङ्गारी वायरन के आल
दोचेस्टर के हैजलिट की भाँति कहूँ कि सेनापति का काव्य
है उसका प्रभाव चाहे जो कुछ हो।

माना सेनापति ने रामायण के कुछ अंशों को ...
पर उसमें किसी भावुक भक्त जैसी वह तन्मयता नहीं ...
आराध्य का प्रसङ्ग छिड़ते ही दूसरों को आनन्द निमग्न कर
रामायण' और 'कृष्ण गीतावली' ने 'स्याम सखा' सूर
'तुलसी' को क्रमशः राम और कृष्ण भक्त नहीं बनाया।
ही क्यों गङ्गा शिव कृष्ण आदि के भक्त हो गये। उनकी
क्या था उसे आगे निवेदन करूँगा।

सेनापति ने आराध्य के प्रति अपनी भक्ति-विह्वलता और आत्म-मरण का परिचय नहीं दिया है। रामायण के ऐसे प्रसङ्गों का संग्रय न : वीरोत्साह प्रधान प्रसङ्ग लिये हैं। समुद्र-दशा का विशद-वर्णन या है।

बूँद ज्यों तए की तची, कमठ की पीठ पर,
छार भयो खात और सिन्धु छननाद के॥

× × × ×

दीन महा मीन, बीत हीन जलचर चुरें,
बदन मलीन कर मीड़ें पछितात हैं।

यहाँ सहृदय पाठक को एक चित्र मयङ्कर उत्ताप का अवश्य मिलेगा . भक्ति उरेत कविता नहीं। मुझे तो 'अनीस' और 'दबीर' जैसी वर्णन-ली ही मिली, सुनिए—

मिस्ले तनवर गर्म था पानी का हर हुबाब।
होती थी सील मौज पै, मुर्गाबियाँ कबाब॥ —अनीस

पानी था आग गर्मिये रोजे हिसाब थी।
माही जो सील मौज पै आई कबाब थी॥ —दबीर

उर्दू शायरों ने मुर्गाबी और माही तथा सेनापति ने महामीन और लचर चुराने की चर्चा की है।

'कवित्त रत्नाकर' की तरह ४ और ५ में उनकी भक्ति-भावना मुखर है। ाभिन्न देवों के प्रति उनकी यह मर्यादा उन्हें उस समय भक्तों की पंक्ति में सिद्ध कर देती है। यहाँ पर विनय की सब भूमिकाएँ भी जहाँ तहाँ मिल ो जाती हैं। यथा—

दिए न मनषि जाहे होत सुभ गति, —दीनता
सन हीरव बचन मन हीरव चमत है। —भयदर्शना

मानौं के ना मानौं करौ सोई जोई जिय जानौं,
हम तौ पुकार एक तोही सौं करत हैं।

अब तू जरा में परयौ मोह पींजरा में,
सेनापति मजु रामै जो हरैया पर पीर के।
ऐसो अवगुनी ताके सेइबे को तरसत,
जानिये न कौन सेनापति के समान है।

प्रभु के उतारिन की गूदरीयौ चीरन की,
भाल, भुज, कण्ठ, उर, छापन कौं लखिबौ।
सेनापति चाहत हैं सकल जनम भरि,
वृन्दावन सीमा तैं न बाहर निकसिबौ।

और—

दृगन सौं देखै बिसरूप है अनूप
बुद्धि सौं विचारे निराकार निरधार

× ×

कर न सन्देहरे कही मैं चित
कहा है बीच देहरे कहा है बीच देहरे।

जहाँ तक सेनापति के मानस का प्रश्न है यह
यहाँ उनके कवि के रूप (शृङ्गारी अथवा भक्त) का ...
रामायण और रामरसायन वर्णन में राम, कृष्ण,
में समस्त छन्दों में कथन की कलात्मक अधिक, अ...
महत्वपूर्ण अङ्कन कम है। उदाहरण के लिए नायक
पर निवदन का सुर में सुर मिलाना हुआ कि वे बोल
...सुर न दीजै दरसि, हौं अगारितो
किन्तु नायक के मुख से दोनों के निकले शब्द
पड़े तो नायक और सुन्दर देव लोक नायक हो गये।

धोखे हुं नदी वै के कहत, सुनत, भये,
तीनों तीनि देव, तीन लोकन के नाइकै।
गाइन गरुड़ केतु, मयो, द्वै सखाऊ भये,
बाबा महादेव बैठे देवलोक जाइ के॥

परन्तु सरकार! आपको बड़ी सरकार का समझकर सवाल करते जरा लगता है। विष्णु यदा कदा पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, ब्रह्मा का भी रा होना हुआ सुना है पर शङ्कर अविकल, अक्षय, अनादि और अनन्त हते हैं। यदि उन तीनों में से एक को हम शङ्कर ही मान लें तो भी नहीं चलता क्योंकि गङ्गा का उद्भव बाद ही का है। तब तो आपके छन्द में समङ्ग श्लेष और अक्रमातिशयोक्ति का चमत्कार ही प्रधान गङ्गा भक्ति नहीं, सुर नदी माहात्म्य नहीं। अजामिल ने नारायण का- । पुत्र का-स्मरण स्नेह सादृश्य और मोहातिरेक वश किया था यहाँ से ही सब मामला बन जाता है। किस युग में यह चारसौ बीसी हुई आपकी यह उद्भावना श्लाघ्य है।

भक्त समग्र सृष्टि को आराध्यमय देखता है। सेनापति का सारा जगत् मय प्रतीत होता है। क्या उन्होंने उपासना की थी? कदापि नहीं। ।—

जुगुति विचारि सेनापति है विचारि कहै,
बर नर नारि दोऊ एक ही बचन में।

सेनापति को नारी में वाटिका, स्वर्ण मोहर, तलवार, मेहँदी, पाग माला, शमादान, माला, कमल, इन्द्रपुरी, चौरङ, सुनार, नौका, वृद्धा समूह, (रजाई, दुशाला, तनसुख) नवग्रह, महाभारत सैन्य, लौंग, सागर, ी, हरिणी, ग्रीष्म-ऋतु और अप्रिय अनमावती स्त्री दृष्टिगोचर होती हैं। के मान, तिल, नेत्र, तोड़ा, चोल, अञ्जन आदि क्रमशः वाघ, तिल्ली नायक, ईख, गङ्गा इत्यादि पदार्थ प्रतीत होते हैं। आधुनिक युग में नारी बिजली की कतार ही नहीं, बेतार का तार, मशीनगन, वायुयान,

टारपीडो, मृत्युकिरण और आटम बम्ब के रूप में दिखाई दे
यह हुई कि आप अठारहवीं शताब्दी में हुए अन्यथा कोई
से कह उठती:—

छन्द रचती हैं हम ध्यान रहे अब आप,
रूप वर्णन में न यह भूल जायेंगे।
आप यदि केशों की हमारे कहेंगे कथा,
भर पेट दाढ़ी मूँछ की प्रशंसा पायेंगे॥
आप यदि हमको कहेंगे कञ्ज लतिका सी,
मधुपूर्ण महुआ से आप कहलायेंगे।
आप यदि हमको कहेंगे मृग-लोचनी तो,
आप भैंसा लोचन अवश्य बन जायेंगे॥*

मैंने ऊपर भक्त को नारी-सौन्दर्य की उपासना करने वाला
सीता के प्रति तुलसी का यही भाव था। कालिदास ने कुमारसम्भव
सर्ग में जगतः पितरौ शिव पार्वती का संयोग शृङ्गार वर्णन
सेनापति ने नारी को वस्त्रसमूह बताते हुए घोर शृङ्गारिकता का
दिया है।

सोवे संग सब राती सीरक परति छाती,
पैयत रजाई नेंकु आलिङ्गन कीने ते।
उर सौं उरोज लागि होत है दुसाल तेई,

× × ×

तन सुख रासि जाके तम के तनकौ छुवैं,
—तरंग १, छन्द ३० और तरंग ३, ,

पर इस [illegible]

* सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा की एक उत्तर पुस्तक से उद्धृत

प० उमाशङ्कर शुक्ल ने लिखा है, 'भगवान के जिस स्वरूप को लेकर
ति चले हैं उसके प्रति उनके हृदय में सच्चा अनुराग था और वे उस
भिव्यक्ति करने में पूर्ण सफल हुये हैं। × × × जब मनुष्य
ह अनुमान होने लगता है कि जीवन एक क्षणिक घटना है और थोड़े
मय में सारा खेल समाप्त होने वाला है तब उसको परमार्थ की चिन्ता
है—

'लेइ देह करि कै पुनीत करि लेइ देह,
जीभै अवलेइ देइ सुरसरि नीर कौ।'

शुक्लजी मुझे क्षमा करें। सच्चा अनुराग और खेल समाप्त होने के समय
रमार्थ चिन्तन विचारणीय है। यह वदतोव्याघात ही मेरे मत की पुष्टि
है। यहाँ किसी भक्त जैसी न राम नाम की लूट हो रही है न कबीर
रैंठ' उठी जाती है और न तुलसी की हासते ही हासते निशा बीत रही
देह को लेइ देह (आनन फानन में) शुद्ध करने की बात इसलिये प्रतीत
है कि अब उनसे कुछ करते धरते नहीं बनता। रपटने या फिसलने
का डर गङ्गा से लगन और निष्ठा कुछ विशेष है बस उर्दू शायर के—

जाता रहा शबाब रहा गम शबाब का,
बेचैन दिल व शोख तबीयत नहीं रही।

ाँति उनके आन्तरिक उद्गार तो देखिये—

आवत बिराम, बैस बीती अभिराम तातैं,
करि बिसराम, भजि रामै किन लेत है।

और × × ×

आयी तैं सरस गई बीती कै बरस·······

आयी से कई बरस सरस (अधिक) आयु-अभिराम बैस-बीत गई।
विवशता, पश्चात्तापपूर्ण यह तिलमिलाहट बड़ी प्यारी है। मनो-
ा के इस उत्तर युग में साहित्य के कोरे विद्यार्थी को जो इन्हीं छन्दों के

हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना

जब लोक-रुचि सूत्र-बद्ध हो जाती है और युग प्रवर्तक कवियों की मर रचना का विश्लेषण कर उनके नमूने के आधार पर सिद्धान्त और यम निर्धारित किये जाते हैं, तब सैद्धान्तिक आलोचना का जन्म होता । लक्ष्य ग्रन्थों के पश्चात् ही लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होता है । भाषा के श्चात् ही व्याकरण का उदय हुआ था । जिन ग्रन्थों में आचार्यों द्वारा ये हुये काव्य के आदर्श बतलाये जाते हैं और उन आदर्शों की उपलब्धि लिये नियम और उपनियम निर्धारित किये जाते हैं वे ग्रन्थ सैद्धान्तिक ालोचना के ग्रन्थ कहलाते हैं । इन ग्रन्थों के आदर्श तथा नियम और पनियम निर्णयात्मक आलोचना के आधार बनते हैं । पाश्चात्य देशों में रस्तू के काव्य सिद्धान्त से लगा कर कालरिज, एडीसन, वर्डस्वर्थ, पेटर, ाइंस, क्रोचे, स्पिन्गार्न, टी० एस० इलियट, मिल्टन, मरे, जेम्स स्काट ादि के सैद्धान्तिक ग्रन्थ और इस देश में भरत मुनि का 'नाट्य शास्त्र', ण्डी का 'काव्यादर्श', क्षेमेन्द्र का 'कविकण्ठाभरण', राजशेखर की 'काव्य-ीमांसा', मम्मट का 'काव्य-प्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण', पण्डित-ाज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' आदि इसी प्रकार की आलोचना के ग्रन्थ हैं ।

हिन्दी के उत्तर मध्य-काल के रीति ग्रन्थ, जैसे केशव की 'रसिक प्रिया' ौर 'कवि प्रिया', देव के 'भावविलास', 'शब्द रसायन' नाम के ग्रन्थ, पद्माकर ा 'जगत विनोद' और भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' आदि रस और अल-ङ्कारों का विवेचन करने वाले ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में इसकी पूर्ति करते हैं ।

आधुनिक काल में सैद्धान्तिक आलोचना का सूत्रपात '
नाटक' नाम की पुस्तिका से होता है। आचार्य महावीर प्रसा
अपने 'रसज्ञ-रञ्जन' के कुछ निबन्धों में सैद्धान्तिक आलोच
हरण उपस्थित किया है। उसका पहला प्रकाशन सन् १९२० में
उसमें कविता की परिभाषा के साथ जो अँग्रेजी भाषा के कवि
परिभाषा से प्रभावित थी कवि-शिक्षा की बहुत सी बातें दी ग
पुस्तक पर राजशेखर, क्षेमेन्द्र और मौलाना हाली का सम्मिलित
फिर भी द्विवेदीजी के विचारों में स्वतन्त्रता और मौलिकता है, उ
सम्बन्धी विचारों में नीचे की बात बड़ी स्पष्टता से हमारे सामने आ

१—कविता में साधारण लोगों की अवस्था, विचार और
का वर्णन हो।

२—उसमें धीरज, साहस, प्रेम और दया आदि गुणों के उदा

३—कल्पना, सूक्ष्म और उपमादिक अलङ्कार गूढ़ न हों।

४—भाषा सहज, स्वाभाविक और मनोहर हो।

५—छन्द सीधा, सुहावना और वर्णन के अनुकूल हो।

(रसज्ञ रञ्जन पृ

द्विवेदीजी कविता में मिल्टन के बतलाये हुए गुणों को
'कविता सादी हो, जोश से भरी हो और असलियत से गिरी न हो'
रञ्जन पृष्ठ ४७) इससे प्रकट होता है कि आचार्य द्विवेदी का
व्यावहारिक और उपदेशात्मक था, वे कविता को जनता की वस्
चाहते थे फिर भी वे रस और चमत्कार के पक्षपाती थे।

(शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार परमावश्यक है
कविता में चमत्कार नहीं, कोई विलक्षणता नहीं, तो उससे आन
प्राप्ति नहीं हो सकती।

आलोचना शास्त्र पर सबसे पहला, प्रमाणद ग्रन्थ बाबू श्यामसु
(सं० १९३२–२००२) का साहित्यालोचन है। उसका पहला संस्कर

१९७९ में हुआ था। यद्यपि उसमें मौलिक अंश बहुत कम है और कहीं-कहीं हडसन का अनुवाद सा लगता है तथापि वह एक प्रकार से सर्वाङ्गपूर्ण है, इसमें भारतीय तथा विदेशी काव्य-शास्त्र सम्बन्धी विचारों का संग्रह है, उन विचारों में न तो सामञ्जस्य स्थापन करने का प्रयत्न है और न मूल्याङ्कन हुआ है। पाश्चात्य पद्धति के अनुसार काव्य का कलाओं के अन्तर्गत ही विवेचन हुआ है। इस प्रकार के विवेचन के औचित्य पर विचार नहीं किया गया है। बाबूजी ने यद्यपि हेगिल का नाम नहीं दिया है तथापि उनका वर्गीकरण हेगिल का ही वर्गीकरण है। इलाहाबाद के विद्यार्थी के प्रारम्भिक अङ्कों में इन पंक्तियों के लेखक ने एक लेख हेगिल के कला विभाजन पर छपाया था। यह साहित्यालोचन से पहले निकली थी। बाबूजी ने कविता की परिभाषाओं में आचार्य मम्मट की परिभाषा को महत्ता दी है, किन्तु रस का विवेचन स्वतन्त्र रूप से किया है। (असंलक्ष्य कम व्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत नहीं।) वास्तव में बाबूजी ने ध्वनि को कोई महत्ता नहीं दी। व्यञ्जना का वर्णन भी परिशिष्ट रूप से नागरी प्रचारणी पत्रिका से उद्धृत किया गया है। वह पुस्तक का अंश नहीं है और नवीनतम संस्करण में वह भी निकाल दिया गया है। बाबूजी ने यद्यपि भारतीय समीक्षा शास्त्र की यत्र-तत्र श्रेष्ठता दिखाने का प्रयत्न किया है, तथापि उन पर व्यापक प्रभाव अँग्रेजी समीक्षा शास्त्र का ही है। उन्होंने काव्य का वाह्य विषयक (objective) और भावात्मक (lyric) के रूप में जो विभाजन किया है, वह भी पाश्चात्य प्रणाली से ही प्रभावित है। जिस समय बाबूजी ने लिखा था उस समय भारतीय समीक्षा-शास्त्र का इतना अध्ययन नहीं हुआ था जितना कि अब हो रहा है। पहले संस्करण की अपेक्षा बाद के परिवर्द्धित संस्करणों में बहुत कुछ भारतीयता का पुट आ गया है। किन्तु मूल ढाँचा वैसा ही रहा फिर भी बाबूजी हम सब लोगों के पथ प्रदर्शक रहे, उनका प्रयत्न भगीरथ प्रयत्न होने के कारण सर्वथा स्तुत्य है।

आचार्य शुक्लजी—आचार्य महावीरप्रसाद और बाबू श्यामसुन्दर-दासजी के अतिरिक्त हिन्दी में साहित्य-शास्त्र उपस्थित करने के बहुत प्रयत्न

हुए। कुछ प्राचीन परिपाटी के अनुसार पद्य में, जैसे श्री का 'काव्य प्रभाकर' और हरिऔधजी का 'रस कलश' जिसकी भूमिका पद्य से अधिक मार्मिक है, और गद्य में भी प्रयत्न हुए, सूर्यकान्त शास्त्री की 'साहित्य मीमांसा' आदि। अलङ्कारों पर कुछ अच्छे ग्रन्थ निकले हैं, प्रमुख हैं लाला भगवानद न की लाला श्री अर्जुनदास केडिया की 'भारती भूषण', सेठ की 'अलङ्कार मञ्जरी' और रसालजी का 'अलङ्कार पीयूष' आदि पण्डित हरिशङ्कर शर्मा का 'रस रत्नाकर' बड़ा सरल और सुबोध उसमें जो संस्कृत के उदाहरणों का अनुवाद हुआ है, वह बहुत है। डा० नगेन्द्र की रीतिकाल की भूमिका में रस-सम्बन्धी कुछ उद्भावनाएँ हैं। उनकी प्रतिभा विवय प्रधान है। उन्होंने कवि की ही भावना को प्राधान्य दिया है। कवि के रस को भी दिया है।

लेखक का नवरस भी इस दिशा में प्रारम्भिक प्रयत्न था। उस सिवाय अयोध्या-नरेश के महाराज प्रतापनारायण के रस कुसुमाकर सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के काव्य कल्पद्रुम के अतिरिक्त हिन्दी गद्य में सम्बन्धी और कोई ग्रन्थ नहीं था। उसका छोटा संस्करण संवत् और बड़ा संस्करण संवत् १९८६ में हुआ था। काव्य-कल्पद्रुम का संस्करण १९८३ में निकला था। नवरस और काव्य कल्पद्रुम के थोड़ा अन्तर है। नवरस में साहित्य दर्पण का आधार लेकर रस को नता दी गई है, और पोद्दारजी के ग्रन्थ में काव्य प्रकाश का रस के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के अन्तर्गत रक्खा है। यद्यपि भूलें अवश्य हैं तथापि उसके पक्ष में यह बात निर्विवाद रूप से कही है कि शास्त्र की पीटी हुई लकीर से हटकर उसमें नये दृष्टिकोण [illegible] विचार किया गया है, और उसमें पहली [illegible] पद्य को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है तथा [illegible] का मौलिक सत्त्व वृत्तियों से सम्बन्ध जोड़ा गया है। इस ग्रन्थ में

उदाहरण अधिकांश में हिन्दी ग्रन्थों से ही लिए गए हैं क्योंकि संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद यदि सिद्धहस्त कवियों द्वारा न किये जायँ तो नीरस रहते हैं।

डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री की 'साहित्य मीमांसा' छोटा-सा ग्रन्थ है। उस पर पाश्चात्य का प्रभाव साहित्यालोचन से भी अधिक है, उसमें उदाहरण अधिकांश में विदेशी साहित्य के पाए जाते हैं। साहित्य शास्त्र के विशेष प्रकरणों को लेकर जो प्रयत्न हुए हैं, उनमें सुधांशु का 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' और श्री पुरुषोत्तमजी का 'आदर्श और यथार्थ' विशेष महत्व के हैं। डाक्टर किरनकुमारी गुप्ता ने भी 'हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण' पर एक सुन्दर पुस्तक लिखी है। नाटकों और कहानियों तथा नाटकों के टेकनीक पर भी कई पुस्तकें निकली हैं। इनके लेखकों के नाम श्री विनोदशङ्कर व्यास, सेठ गोविन्ददास, श्री ब्रजरत्नदास, डाक्टर सत्येन्द्र प्रभृति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नवरस की भूलों का संशोधन करने तथा रस के अतिरिक्त अन्य काव्याङ्गों का वर्णन करने के लिए मैंने 'सिद्धान्त और अध्ययन' और उसी का पूरक ग्रन्थ 'काव्य के रूप' की रचना की। इन ग्रन्थों में पूर्व और पाश्चात्य-काव्य शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, किन्तु इनमें वर्णित सिद्धान्तों का कम-से-कम पहले भाग का मूलस्रोत भारतीय साहित्य शास्त्र है। समालोचना के प्रकार और सिद्धान्त तथा उपन्यास, छोटी कहानी आदि का विवरण अवश्य विदेशी परम्परा से प्रभावित है, किन्तु सिद्धान्तों के प्रतिपादन में उदाहरण अधिकांश में भारतीय साहित्य शास्त्र से लिए गए हैं। काव्य के विभिन्न रूपों का जो वर्णन है इसमें उनके सैद्धान्तिक विवेचन के साथ उनका ऐतिहासिक विकास भी दिखाया गया है।

हाल में और भी कई प्रयत्न हुए हैं। उन सब का नामोल्लेख भी करना कठिन है। उनमें से कुछ ये हैं। साहित्य (शिवनारायण शर्मा), साहित्यालोचन के सिद्धान्त (शिवनन्दनप्रसाद) आदि। इन सब में भी

वे अभिव्यञ्जना की शैली की अपेक्षा काव्य की वस्तु पर अधिक बल देते हैं। इसी नाते उन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी को कवियों में शीर्ष स्थान दिया है। हिन्दी में व्याख्यात्मक आलोचना का सूत्रपात शुक्लजी ने किया और वे इस प्रकार के आलोचकों में अग्रगण्य हैं। शुक्लजी ने संवत् १९४१, १९४२ में साहित्यालोचन का कोई क्रमबद्ध साहित्य-शास्त्र नहीं लिखा तथापि उनके स्फुट विचार भी बड़े महत्व के हैं। वे 'चिन्तामणि' के दोनों भागों और 'रस मीमांसा' में आई हुई स्फुट टिप्पणियों में संगृहीत हैं।

हिन्दी समीक्षा का नवीन ...

साहित्य शास्त्र का ह्रास उन्नीसवीं शताब्दी तक पूरा हो
उसका नया जन्म यद्यपि भारतेन्दु-युग में ही हो गया था,
व्यवस्थित विकास बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही मानना
प्रथम उत्थान को समीक्षा का द्विवेदी युग कहा जाता है। स्वयं
अतिरिक्त पण्डित पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु और पण्डित
युग के प्रमुख समीक्षक हैं। साहित्य के संस्कार की
दिखायी दी और स्वभावतः इस युग की समीक्षा ने
ग्रहण किया।

उस समय रीति शैली के काव्य का ही सबसे
थोड़ी मात्रा में नवीन शैली की रचना भी होने लगी थी,
वह रीति-काव्य में बहुत कम थी। पण्डित पद्मसिंह शर्मा
का आधार मुख्यतः रीति कविता है; यद्यपि थोड़ा बहुत
पर भी उन्होंने विचार किया। ठीक जिस मात्रा में ये दोनों
भेद उस समय प्रचलित थे, उसी अनुपात में शर्मा जी ने
किया। इस दृष्टि से शर्माजी अपने समय के प्रतिनिधि
सकते हैं।

क्रमशः नवीन साहित्य की मात्रा, परिमाण और
रीति काव्य का अन्त होता गया। रीति के प्रभावों से
को पूरी मुक्ति नहीं मिली। प्राचीन का मोह उनमें नहीं
नवीन समीक्षा पर इस दृष्टि से विचार करें कि विशुद्ध

पर प्राचीन साहित्य और नवीन साहित्य का समन्वय कब हुआ, अर्थात् कब समीक्षा की एक ऐसी सत्ता प्रतिष्ठित हुई जिसमें नवीन और प्राचीन साहित्य एक ही तुला पर रख कर देखे गये, तो हम कहेंगे कि वह युग द्विवेदी युग के पश्चात् उपस्थित हुआ। स्वयं शुक्लजी का झुकाव नवीन की अपेक्षा प्राचीन की ओर अधिक था।

जिस प्रकार शुक्लजी और उनके पूर्ववर्ती समीक्षक प्राचीन साहित्य की ओर इतना अधिक झुक गये थे कि वे नवीन साहित्य की विशेषताओं को ठीक परख न कर सके, उसी प्रकार आज की नवीन समीक्षा प्रचलित साहित्य की ओर इतनी आकृष्ट है कि न केवल प्राचीन साहित्य की उपेक्षा हो रही है, बल्कि साहित्य की कोई सार्वजनीन और स्थिर माप बनने में भी बाधा पड़ रही है। यह स्वाभाविक है कि द्विवेदी युग में नवीन साहित्य का पलड़ा हलका होने के कारण समीक्षकों की दृष्टि उसके गुणों की ओर न जा सकी, किन्तु इस बात का कोई कारण नहीं दीखता कि आज के नये समीक्षक प्राचीन और नवीन समस्त साहित्य को सम दृष्टि से क्यों न देखें ?

साहित्य की कोई अपनी स्थायी कसौटी क्यों नहीं बन रही ? क्यों हम अपनी सभी विशेष दृष्टियों से साहित्यिक कृतियों की समीक्षा करते हैं ? इस का कारण केवल हमारे संस्कार नहीं हैं, वे अनेक मतवाद भी हैं, जो नई समीक्षा में प्रवेश कर चुके हैं। इन मतवादों से किस प्रकार हमारी और हमारे साहित्य की रक्षा हो, आज की साहित्य-समीक्षा की मुख्य समस्या यही है।

यहाँ हम धारावाहिक रूप से यह देखना चाहते हैं कि हिन्दी की नवीन समीक्षा किन आरम्भिक परिस्थितियों को पार कर आज की भूमि पर पहुँची है और किस प्रकार वह भविष्य पथ की ओर अग्रसर हो रही है। उसने कितना साधन सम्भार संग्रह कर लिया है और उसकी सहायता से वह कहाँ तक आगामी परिस्थितियों का सामना कर सकती है ?

पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा में सुधार का मुख्य विषय रचना-कौशल था। रीति काव्य में, जो शर्माजी के समय का प्रचलित काव्य-प्रवाह था,

कौशल की ही प्रधानता थी और उनके समय के नव निर्माण में
कमी थी। फलतः शर्मा जी की समीक्षा का मुख्य आधार . . .
जो सामयिक स्थिति का स्वाभाविक परिणाम था। नवीन सुधार
काव्य-आत्मा नहीं, काव्य-शरीर था। यह भी समय को ~
अनिवार्य ही था।

काव्य-शरीर के अन्तर्गत भाषा, पद प्रयोग, उक्ति-चमत्कार
कौशल आदि आते हैं, इन्हीं की ओर शर्मा जी की दृष्टि गई।
किया जाय कि काव्य-आत्मा में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, . .
यही कहा जा सकता है कि सूर और तुलसी का काव्य आत्मा
और बिहारी तथा देव का काव्य-शरीर स्थानीय, पं० . .
समीक्षा काव्य-शरीर का आग्रह करके चली, देव और बिहारी
बना कर आगे बढ़ी।

सुधार की पहली सीढ़ी शरीर-सम्बन्धिनी ही होती है, और
मूल्य भी कुछ कम नहीं होता। अंग्रेजी की युक्ति है कि शुद्ध
शुद्ध आत्मा रह सकती है, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि
सदैव शुद्ध आत्मा ही निवास करती है। शर्मा जी ने . .
के सभी पहलू स्पष्ट कर दिए और उसकी समस्त
कर दीं। काव्य-समीक्षा के लिए उनका कार्य अपनी सीमा में
है और यह सिद्ध करता है कि शरीर के सुधारने से ही
नहीं संवरते।

नवीन काव्य धारा के सम्बन्ध में शर्मा जी का मत
बिहारी और देव आदि के—काव्य प्रतिमानों से ही
कविता किस आदर्श को ग्रहण करे, इसी विषय पर —
शैली से ही परिचालित हुए थे, फलतः नवीन काव्य की
तो उनकी सम्मति का विशेष मूल्य था और न प्रभाव ही।
उन्होंने हाली का आदर्श ग्रहण करने की सिफ़ारिश की,
उस साँचे में नहीं बैठ सकती थी।

द्विवेदी युग का नवीन काव्य आदर्शात्मक काव्य था। उसके मूल में खयुग की भावना का विन्यास था। छायावाद की कविता तो और भी अधिक आत्माभिमुखी थी। उसके लिए देव और बिहारी के साँचे कहाँ तक ठीक उतर सकते थे, यह आज का सामान्य व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है।

'मिश्र बन्धुओं' की समीक्षा में देश-काल के उपादानों का संग्रह हुआ और कवियों की जीवनी पर भी प्रकाश पड़ा, किन्तु वह सब उल्लेख मात्र का था, समीक्षा की दृष्टि में कोई परिवर्तन न हो पाया। सब कुछ होते हुए मिश्रबन्धु रीति-काव्य का मोह न त्याग सके, न उन्होंने काव्य के भाव पक्ष को कोरी कलात्मकता से पृथक् करके देखा। रीति-काव्य और रीति-ग्रन्थों का उनकी समीक्षा पर अमिट प्रभाव पड़ा है।

द्विवेदी जी ने समीक्षा के जीवन्त पहलू—भाव-पक्ष पर पूरा ध्यान दिया, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी छत्र-छाया में नवीन धारा के कवियों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सम्पूर्ण त्रुटियों के रहते हुए युग-काव्य का पोषण करना द्विवेदी का ही काम था और वे युग द्रष्टा साहित्यिक और समीक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। 'हिन्दी नवरत्न' पर अपना मत देते हुए उन्होंने एक ओर सूर और तुलसी से सन्त कवियों के काव्य को शृङ्गारी कवियों से पृथक और ऊँचा स्थान देने की सिफारिश की, और दूसरी ओर भारतेन्दु जैसी नई शैली के स्वदेश-प्रेमी कवि को सम्मानित पद प्रदान किया। समीक्षा की एक सुन्दर रूप-रेखा द्विवेदीजी ने प्रस्तुत की, यद्यपि उसमें रङ्ग भरने, उसे प्रशस्त करने, और शास्त्रीय मर्यादा देने का कार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पन्न हुआ।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन भी इस युग के मुख्य समीक्षकों में से हैं, जिन पर रीति-पद्धति की पूरी छाप पड़ी है। द्विवेदीजी अपनी समीक्षा में काव्य विषय को महत्त्व देते हैं, भले ही शैली का सौन्दर्य तथा भावात्मकता उसमें न हो। मिश्रजी और दीनजी विषय की अपेक्षा

पात्रों का उदाहरण देकर वे कहते हैं कि राम के चित्रण में पाठक या श्रोता की वृत्ति रमती है, रसानुभव करती है; रावण के चित्रण में वह रसानुभव नहीं करती और सुग्रीव आदि पात्रों के चित्रण में अंशतः रस लेती है। यह अनोखी उपपत्ति काव्य की समस्त क्रमागत विवेचना के विरुद्ध है तथा शुक्लजी की नैतिक काव्य-दृष्टि का विज्ञापन करती है।

रस और अलङ्कार, भाव पक्ष और शैली पक्ष, का पृथक्करण और आत्यन्तिक विच्छेद शुक्लजी का दूसरा साहित्यिक सिद्धान्त है। विभावपक्ष और अलङ्कार पक्ष, काव्य-भावना और काव्य-व्यञ्जना, को दो पृथक् क्रियाएँ मानने के कारण शुक्लजी उनके समन्वय की कल्पना भी नहीं कर सके। न तो भारतीय साहित्याचार्य और न क्रोचे जैसे नवीन सिद्धान्त-स्थापक वस्तु और शैली में इस प्रकार का कोई भेद स्वीकार करते हैं।

काव्य में प्रकृति-वर्णन के एक विशेष प्रकार का आग्रह करते हुए शुक्लजी ने काव्य के स्थायी वर्ण्य-विषयों और वर्णन-प्रकारों का मत उपस्थित करते हैं। काव्य की देश-काल-परिच्छिन्न शैलियाँ और उनकी प्रेरक परिस्थितियाँ शुक्लजी को मान्य नहीं हैं। रागात्मिका वृत्ति का एक ही नित्य और स्थिर स्वरूप मानने के कारण शुक्लजी काव्य के देशकालानुरूप विकास की उपेक्षा कर गये हैं। इसलिये वे नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि अनेक विधाओं के स्वतन्त्र रूपों की ओर आकृष्ट नहीं हुवे।

सामान्य नैतिकता का ही नहीं, भारतीय समाज-पद्धति और वर्णव्यवस्था का भी प्रभाव शुक्लजी की समीक्षा पर देखा जाता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था का एक समाज-पद्धति के रूप में समर्थन करना एक बात है और उसे काव्य वैशिष्ट्य का हेतु मान लेना दूसरी ही बात है। शुक्लजी काव्य के लोक आदर्श के कारण भावनावान् कवि सूरदास के प्रति जो मत व्यक्त करते हैं उनसे शुक्लजी की समीक्षा सम्बन्धी व्यक्तिगत दृष्टि का परिचय मिलता है। स्थूल व्यावहारिक सम्बन्धों का प्रबन्ध-काव्य के साँचे में उल्लेख करने के कारण नवीन भावात्मक और दार्शनिक काव्य से भी वे विरक्त हैं।

र उठाकर सार्वजनिक कलावस्तु के रूप में देखने की अपूर्व प्रेरणा हुई।

शुक्लजी का समीक्षा कार्य पाण्डित्यपूर्ण होता हुआ भी उनकी वैयक्तिक यों का द्योतक है। इसी कारण वह मार्मिक है, किन्तु वस्तुगत और निक नहीं। श्यामसुन्दरदासजी का 'साहित्यलोचन' उतना मौलिक न किन्तु वह साहित्य और उसके अङ्गों की तटस्थ, ऐतिहासिक तथा विक व्याख्या का प्रथम प्रयत्न है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शुक्लजी के नैतिक व्यवहारवादी कलादर्श की अपेक्षा वह अधिक साहित्यिक है।

इसी समय नवीन साहित्य का नवोन्मेष हो रहा था और उसकी या करने वाले समीक्षक भी क्षेत्र में आ रहे थे। नवीन काव्य में भिव्यञ्जना का प्राधान्य था और प्रगति काव्य का माध्यम ग्रहण किया था। इसी के अनुरूप नवीन समीक्षा भी जीवन और कला का ऐक्य रस्तु और शैली का ऐक्य उद्घोषित करके चली। नवीन प्रगीत काव्य त्मीतात्मकता और लय से प्रभावित होकर नये समीक्षकों ने प्रथम बार की आध्यात्मिकता का अनुभव किया, काव्य-रस को 'अलौकिक' माना।

शुक्लजी प्रभृति पूर्ववर्ती समीक्षक काव्य-विषय को महत्व देते थे और जन का साधारणीकरण आवश्यक बताते थे, किन्तु नई समीक्षा, जो काव्यानुभूति के आधार पर प्रतिष्ठित हुई, काव्य को ही आध्यात्मिक स्वीकार करने लगी। सम्पूर्ण काव्य रसात्मक नहीं होता, किन्तु रसात्मक ही होता है। काव्य की रसात्मकता का अर्थ ही है उसकी मिकता। रस का आनन्द अलौकिक आनन्द है।

भारतीय बाबू की नव-जागृति के काल में नवीन कविता जो सुन्दर सम-दार्शनिक आभा, कल्पना की अपूर्व छटा तथा भाषा और अभि-ा का नव-विकास लेकर उदित हुई उसने हिन्दी समीक्षा काव्य की भावभूमि का प्रथम बार परिदर्शन कर सकी। बँगला में रवीन्द्रनाथ न्दो में नवीन रहस्यवादी, दार्शनिक, सौन्दर्यचेता कवियों ने काव्य

को उच्चतम सांस्कृतिक भूमि पर पहुँचाने का प्रयत्न किया
समीक्षा में भी नई उमङ्ग उत्पन्न हुई और काव्य का सौन्दर्य
को छोड़ कर आध्यात्मिक अनुभूति का प्रेरक बन गया।

किन्तु काव्यानुभूति के साथ सङ्गीत का संयोग इस
रहा। सङ्गीत का इतना गहरा प्रभाव पड़ गया था कि
भाषा भी ध्वन्यात्मक हो रही थी। प्रसाद के नाटक,
और पन्तजी की गद्य भूमिकाएँ अतिरञ्जित भाषा के
त्मक काव्य का इतना प्रसार था कि साहित्य के
कीय अङ्ग भी अपनी विशेषता छोड़कर काव्यालङ्कारों से

एक अतिरिक्त सौन्दर्य समवेदना इस युग की
करने लगी थी जिससे विशुद्ध भाव-व्यञ्जना का मार्ग
था। कतिपय समीक्षकों ने इस कारण इस युग को सौन्दर्य
युग कहा है, किन्तु यह आंशिक सत्य ही है। वास्तव में
अभिरुचि, जिसमें भाषा और भावों की अलङ्कृति की स्वाभ
इस युग में देखी जाती है। काव्य में विशुद्ध भाव-
सौन्दर्यालंकृति भी मिली हुई है।

फिर भी काव्य का अनुभूति-पक्ष इस काल की
रीति से प्रदर्शित हुआ और समीक्षकों ने अनुभूति के
विवेचना करने का यथेष्ट प्रयत्न किया। विशुद्ध
भावयोग की खोज की गई तथा काव्य की मानसिक
दिया गया। प्रथम बार एक मानरेखा बनी, जिसने
भारतीय और पाश्चात्य साहित्य एकाकार पर रख कर दे

हिन्दी-समीक्षा के लिए यह युग प्रवर्तक कार्य था,
पर हिन्दी साहित्य विश्व-साहित्य का एक अङ्ग माना जा
एक ऐसी वास्तविक चेतना उत्पन्न हुई जिसमें देशगत
के लिए स्थान न था। रहस्यवादी समीक्षा युग की यह
नींव है।

ज्यों ही काव्य की यह अबाध सत्ता   त हुई त्यों ही समीक्षकों को
भव भी हुआ कि ऐसा उत्कृष्ट साहित्य जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक
। जा सके, विरल है और प्रत्येक साहित्यिक रचना को यह सर्वोच्च पद
। नहीं होता। इसी समय समीक्षकों का एक वर्ग इस मत के प्रचार में
। कि हिन्दी का नवीन काव्य पूँजीवादी सभ्यता का काव्य है और उस
उक्त सभ्यता के एक युग विशेष की छाप है। मानव इतिहास को मार्क्स
जेन कतिपय कालों में विभाजित किया है, उसी मापदण्ड को लेकर नये
ह्निक हिन्दी कविता पर अपने प्रयोग करने लगे।

रहस्यवादी, मनोवैज्ञानिक और भावात्मक समीक्षकों की यह प्रतिक्रिया
। वे समीक्षक जब काव्य का—श्रेष्ठकाव्य का देशकाल-निर्बाध रूप मानते
व नया समीक्षक-दल इसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और नवीन कविता
'पूँजीवाद' कहने लगा।

इन दोनों मतों के तारतम्य को समझ लेना चाहिए। प.ला मत
य के मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक और भावात्मक स्वरूप की व्याख्या करता
किन्तु यह व्याख्या इतनी सूक्ष्म और मार्मिक है कि प्रत्येक समीक्षक
काव्य का चयन इस पद्धति से नहीं कर सकता। भय है कि समीक्षक
त्वाभिव्यञ्जक हो जायगा और अपनी रुचि विशेष का अनुशासन स्वीकार
लेगा। वह साहित्य की कोई तटस्थ या वस्तुगत व्याख्या न कर सकेगा।

किन्तु इस भय के साथ इ३ सिद्धान्त का अपना बल भी है और वह
काव्य-प्रेमी मात्र के साक्ष्य का बल है। सभी सहृदय यह स्वीकार करेंगे
श्रेष्ठ कवियों की सुन्दरतम रचनाओं में सार्वजनीनता है, युग का प्रति-
र या वाद का अपवाद नहीं। काव्य प्रक्रिया कोरी भौतिक वस्तु नहीं है,
मानव कल्पना की सृष्टि है। वह क्रमागत मानव-संस्कृति की परिपूर्णता
परिणाम है।

दूसरी ओर यह भी असत्य नहीं कि कवि भी मनुष्य है और अपने युग
स्थितियों और प्रवृत्तियों का उस पर भी प्रभाव है। दोनों मत नितांत

विरोधी नहीं हैं। एक काव्य के मानसिक और . ... करता है और दूसरा उन ऐतिहासिक स्थितियों की शोध वह रचना सम्भव हुई। काव्य के ये दो पक्ष हैं, दोनों ... और समन्वय सम्भव है, यह स्वीकार करना होगा।

किन्तु दोनों दृष्टियों में विभेद बढ़ता ही गया है। एक मनोवैज्ञानिक समीक्षा अपनी दृढ़ साहित्यिक भित्ति ... काव्य-प्रभाव की अभिव्यञ्जना करने लगी और दूसरी साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक विशेषताओं का एक लिए तिरस्कार करने लगे।

किन्तु दोनों पक्षों में सतर्क समीक्षकों का एक दल ... को व्यावहारिक समीक्षा में इतना अतिवादी नहीं बना। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जिन नवीन कवियों का स्वागत एक पक्ष ने किया था दूसरे पक्ष के समीक्षकों ने अपनी सामाजिक उन्हीं कवियों के महत्व को स्वीकार किया। इन दोनों दलों के पक्ष-भेद अवश्य है, किन्तु वास्तविक भेद नहीं।

कट्टरता का परिणाम दोनों ओर अनिष्टकारी हुआ, समीक्षा के सामने संकट उत्पन्न हो गया कि यह आपस की ... कर कहीं अपने महान् उद्देश्य से न गिर जाय। प्रभाववादी समी... वैयक्तिक सीमाओं पर पहुँच गये और केवल हृदय की ... समीक्षा के नाम से प्रकाशित करने लगे। अपनी रुचि के ... ...रिक भाषा में, उपमान-उपमेय विधान द्वारा, प्रशंसा करना ही काम हो गया।

दूसरी ओर परिस्थितियों और काव्य-रचना की सापेक्षता का साहित्यिक मर्यादा को पार कर गया और हिन्दी साहित्य में 'वादों' का प्रचलन हो उठा। प्रचारक समीक्षकों ने सामाजिक विकास के रूप में साहित्य की व्याख्या की और सम्भवतः इस रूप में साहित्यिक

हार किया। इस उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया में काव्य की शिष्ट समीक्षा के
स्थान ही कहाँ था।

इस समीक्षा-धारा का, अपना उपयोग था। हिन्दी की कविता का
जिक आधार क्षीण हो रहा था और कविगण अपने ऐकान्तिक तराने
लगे थे। उनकी रचनाओं पर अतिरिक्त विषाद की छाया पड़ गई थी,
। नवीन काव्य-धारा की रक्षा करती थी। अब भारतीय सामाजिक
स्था में वह मार्मिक प्रहर आ गया था, जब कवियों में संवेदन-शील
र और समीक्षकों की मर्मग्राहिणी दृष्टि नवीन समाजवादी आन्दोलन का
दें। इन्हीं कारणों से प्रगतिवादी धारा का बल बढ़ गया।

प्रभाववादी समीक्षा और प्रगतिवादी समीक्षा का द्विमुखी संघर्ष ही हमारे
त्य के सम्मुख नहीं, एक तीसरी समीक्षा-पद्धति भी धीरे-धीरे सिर उठा
है और वह प्रगतिवादी सामाजिक काव्य-सिद्धान्त उपस्थित करते हैं,
काव्य वास्तव में सामाजिक चेतना का विषय नहीं है, वह कवि की
चेतना की अभिव्यक्ति है। वर्तमान कवि सामाजिक 'वैषम्य से आक्रान्त'
और वह कल्पना-जगत् में आ मतृप्ति करता है। कविता उसकी आत्मतृप्ति
साधन है।

यह समीक्षक-वर्ग साहित्य के सामाजिक पक्ष को महत्त्व देने के पहले
व्यक्ति के मानसिक विश्लेषण का प्रयास करता है। बिना मानसिक
ा, अतृप्ति या मनोग्रन्थि के काव्य कर्म आरम्भ ही नहीं होता। काव्य
मुख्य प्रयोजन कवि का मानसिक समाधान पहले है, पीछे और कुछ।

सामाजिक परिस्थितियों को सहसा बदल देना हमारी शक्ति में नहीं है
। इतना हम कह सकते हैं कि साहित्य समीक्षा के स्वस्थ विकास में इन
वादों के खतरे को समझें और इनमें समन्वय लाने का उद्योग करें।
। की हमारी समीक्षा-दृष्टि नवीन साहित्यिक स्वरूपों के ही विचार-विमर्श
ती हुई है। साहित्य के व्यापक आदर्श, जिनमें नवीन और प्राचीन
त्य-सामग्री का हमारी सांस्कृतिक और कलात्मक निधि का—सामूहिक
से ग्रहण हो सके, हमारी चिन्तना से दूर होते जा रहे हैं। उस पर फिर

यप्रवास', 'साकेत' और 'कामायनी' की बृहत्त्रयी में महाकाव्यत्व

दी में महाकाव्य की शास्त्रीय परिभाषा संस्कृत काव्य-शास्त्र से गृहीत
दी-साहित्य अनेक रूपों में, विशेषकर शास्त्रीय परम्पराओं और मान्य-
, संस्कृत साहित्य का ही उत्तराधिकारी है। हिन्दी के महाकाव्यों में
और अर्वाचीन दोनों युगों के महाकाव्यों को कई दृष्टियों से भिन्न मानना
पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत', 'रामचरित मानस', 'रामचन्द्रिका' इत्यादि
यों को हम पूर्णतया महाकाव्य की शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप पाते
दि किसी में दोष है (जैसे रामचन्द्रिका में) तो वह कवि के रचना-
की कमी के कारण है परन्तु इससे महाकाव्य की मान्यता में कोई
नहीं आता। परन्तु आधुनिक युग में हमारी सभी मान्यताएँ बदली
जीवन के मान और मूल्य भी बदले हैं—हमारी शास्त्रीय परम्पराएँ
ली है। अतः महाकाव्य की कसौटी भी बदली है। इसका यह अर्थ
कि उस कसौटी में आमूल परिवर्तन हुआ है। केवल इतना ही कहा
ता है कि युग के अनुरूप वस्तु तत्व और शैली में आवश्यक और
अन्तर आ गया है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार महाकाव्य में तीन
देखा है १—प्रबन्धात्मक या सर्गबद्ध आख्यान। २—विराट् और
वाली चरित्र और विषय। ३—शैली का औदात्य और गाम्भीर्य।

रकाव्य का भारतीय कल्पना में एक ऐसे 'नायक' का जीवन
न होना चाहिए—"जिसका व्यक्तित्व विविध गुण सम्पन्न हो—जो

ऐतिहासिक और जातीय महापुरुष हो और उसकी जीवन जिसमें समस्त जाति (या राष्ट्र) के विशाल जीवन अपनी मूर्तियों, परम्पराओं, रीति-नीतियों और आदर्शों के साथ [illegible] इस प्रकार भारतीय महाकाव्य अनिवार्यतः जातीय [illegible] 'रामायण' और 'महाभारत' सच्चे रूप में 'महाकाव्य' हैं। और देशों के महाकाव्य भी इसी कोटि के हैं—जैसे यूनानी 'ईलियड' और 'ओडेसी'। अस्तु।

उपर्युक्त विशाल आख्यान के अनुरोध से [illegible] चित्रण की दृष्टि से जीवन का कोई अंश या पक्ष उपेक्षित यही कारण है कि भारतीय महाकाव्यों में युद्ध और शान्ति दोनों वेश है। वैभव और ऐश्वर्यपूर्ण सुखी प्रजा, राजकार्य, समाज वर्णन से लेकर राजपथ, पर्वत, वन-उपवन, नदी-निर्झर, ऊषा, रात्रि, सैन्य इत्यादि इत्यादि सबका वर्णन महाकाव्यों में विशद मिलता है और इसीलिए महाकाव्य के वस्तुतत्त्व के अन्तर्गत इन विशेषताओं का समावेश कर दिया गया। इसीलिए महाकाव्यों में अधिक सर्गों का विधान किया गया था। इनसे तो केवल वस्तु व्यापकता का ही संकेत मिलता है।

महाकाव्य की वर्णन शैली में औदात्य और गाम्भीर्य होना उसमें साधु शिष्ट भाषा, पद-लालित्य, गुणों का समावेश, [illegible] और रसों की परिपक्वता अपेक्षित है। बहिरङ्ग दृष्टि से उसमें पूर्ण होना चाहिए अन्यथा वह राधेश्याम रामायण की भाँति सब कुछ होकर महाकाव्य नहीं बन सकेगा। यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि इस [illegible] गुण के कारण ही आधुनिक युग के कुछ ही काव्य महाकाव्य हैं और महा काव्य नाम से कहे जाने वाले कई काव्य इस कोटि तक नहीं पहुँच के कारण 'महाकाव्य' नहीं कहे जा सकते।

इन तीनों विशेषताओं का विश्लेषण करें तो हमें पहली और तीसरी विशेषता को प्रधानता देनी होगी। दूसरी विशेषता, पहली विशेषता से

वर्णित है परन्तु वह केवल स्थूल लक्षणों में परिपूर्ण है अतः उसमें युग अनुरूप अनेक हेरफेर होने की गुञ्जाइश है। केवल सूक्ष्म आत्मा और णतत्व ही प्रधान होता है।

आधुनिक युग में हिन्दी में जिन्हें महाकाव्य कहा जा सकता है वे हैं—

१—प्रियप्रवास (हरिऔधजी)

२—साकेत (मैथिलीशरण गुप्तजी)

र ३—कामायनी (जयशङ्कर 'प्रसाद' जी)

इसके अतिरिक्त 'हल्दी घाटी', 'नूरजहाँ', 'विक्रमादित्य', 'सिद्धार्थ', र्धमान महावीर', 'कुरुक्षेत्र' आदि को भी महाकाव्य माना गया है। न्तु महाकाव्य की दृष्टि से प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी की बृहत्त्रयी सन्दिग्ध है। अतः यहाँ उन पर ही विचार करना हमारा उद्देश्य है।

इन तीनों महाकाव्यों में क्रमशः द्वापर युग के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति श्रीकृष्ण, युग के सर्वोत्तम मानव राम और प्रागैतिहासिक युग के सर्वश्रेष्ठ और दि पुरुष-मनु का जीवन आख्यान कवियों का प्रतिपाद्य है। तीनों व्यक्तियों महानता और सर्वगुण सम्पन्नता के विषय में दो मत नहीं हो सकते। अपने-अपने युग के मानव की श्रेष्ठता के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं। राम और ण तो इसी कारण ब्रह्म या ईश्वर के अवतार भी मान लिए गये थे। धुनिक बुद्धिवादी युग में उनका अवतार होना तो सर्वमान्य नहीं है न्तु अवतार की बौद्धिक व्याख्या के अनुसार उन्हें अवतार कहा जा ता है। मनु भी राम और कृष्ण की भाँति एक शक्तिशाली समाज न्ता और व्यवस्थापक थे। अतः वे तीनों महाकाव्यों के नायक होने य ही थे। राम, कृष्ण और मनु तीनों महानायकों के महान न भी अपने-अपने युग और समस्त जाति के जीवन में समाविष्ट र आत्मसात् कर सकते हैं। इनके जीवन विविध घटनाओं से परिपूर्ण हैं :: दीर्घकालीन और विशाल है। किन्तु तीनों महाकाव्यों में उस जीवन चित्र देने में कवियों ने विविध घटनाओं की विशदता वाली रूढ़ परि- का पालन नहीं किया है।

'प्रियप्रवास' में कृष्ण का जीवन, घटना बहुल होते हुए भी, होकर आंशिक रूप में ही प्रस्तुत हुआ है। कवि कथा को कृष्ण के की एक अवस्था से उठाता और उसे अपने केन्द्रित लक्ष्य के मुनाता है। अनेक घटनाओं का वर्णन करने में उसकी रुचि नहीं है इसके विपरीत उसकी रुचि व्यक्तियों के मानसिक अथवा भाव- तत्व की ओर अधिक है। वस्तु जीवन की स्थूल घटनाओं से में भावात्मक सूक्ष्मता अधिक है। मानसिक अनुभूतियों के भी घटना कहा जा सकता है। साकेत और प्रियप्रवास में भी वस्तु स्थूल घटनाएँ न देकर भावात्मक घटनाओं का चित्रण करना उद्देश्य है। यह ठीक है कि वस्तुओं का समारोहपूर्ण विशद वर्णन काव्य में एक औदात्य आ जाता है किन्तु सूक्ष्म मानसिक वस्तुओं का स्वरूप आलेखन भी कल्पना की उच्चतर शक्ति से ही 'कामायनी' में भी व्यक्त वस्तुओं का वैविध्य और उससे उत्पन्न औदात्य भले ही न हो परन्तु उसमें मनु के मन का जो अनेक क्रमिक वृत्तियों के विकास के माध्यम से आलेखित हुआ महाकवि की कला के ही अनुरूप है।

प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी तीनों में प्रबन्ध की घटनाओं की सूक्ष्मता उत्तरोत्तर बढ़ी हुई दिखाई देती है। महाकाव्यों की नई विशेषता है और इसको मान्य करते हुए की प्रचलित और रूढ़ि परम्परा की कसौटी को भी बदलना

जातीय महत्व की दृष्टि से 'साकेत' और 'कामायनी' ही पहुँचते हैं। 'प्रियप्रवास' में जीवन की एकाङ्गिता है, 'साकेत' यनी' की भाँति विविधता और व्यापकता नहीं। इस दृष्टि से 'कामायनी' से 'प्रियप्रवास' में भावात्मकता अधिक है। सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्व की बहुलता के साथ-साथ प्रतीकात्मकता संख्या आदि के प्रश्न अपेक्षाकृत गौण ही हैं। वे तो केवल

के द्योतक स्थूल लक्षण मात्र हैं। इन तीनों महाकाव्यों में सर्गों की संख्या महाकाव्य के नियमानुसार ही है।

वस्तु-चित्रण में मानव चरित्र और प्रकृति चित्रण का महाकाव्य में विशेष स्थान होता है। इन दोनों के बिना महाकाव्य में विषयगत (Objective) विशालता, उच्चता, गहराई और व्यापकता नहीं आ सकती। इन्हीं तत्वों से महाकाव्य की कथा निर्झर की भाँति द्रुतिगामिनी न होकर नदी की धारा की भाँति मंथरगामिनी होती है। ऐसे ही स्थलों में पाठकों का मन रमाया जा सकता है। इन्हीं में रस के परिपाक के लिये अवसर और अवकाश मिलता है। इस कसौटी पर तीनों महाकाव्यों को कसा जाय तो हम कह सकते हैं कि तीनों अपने प्रयास में सफल हैं। प्रकृति के विभिन्न रूपों का जैसा चित्रण इन तीनों काव्यों में मिलता है वह अत्यन्त सुन्दर है। 'प्रियप्रवास' में नवम सर्ग में अवश्य प्रकृति चित्रण के पीछे रूढ़ परम्परा का पालन है। परन्तु उसका परिहार उसके दूसरे प्रकृति चित्रणों से भली-भाँति हो जाता है। प्रकृति और मानव जीवन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध जितना प्रियप्रवास में है उतना पूर्ववर्ती हिन्दी महाकाव्यों में नहीं मिलता। यह सम्बन्ध साकेत और कामायनी में उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। कामायनी में तो प्रकृति और मानव मन परस्पर एकाकार से हो गये हैं। कवि की रहस्यभावना के कारण यह और भी अधिक सम्भव हो सका है।

मानव-चरित्र का अङ्कन तीनों महाकाव्यों में बड़े कौशल के साथ हुआ है। 'प्रियप्रवास' के नायक कृष्ण गीता के कर्मयोगी महापुरुष हैं—जाति और राष्ट्र के मङ्गल के विधायक और सङ्कट के त्राता। नायिका राधा मान-वोचित गुणों से पूर्ण और आत्मवियोग में भी पारमार्थिक दृष्टि लिये हुए हैं। उनका लोक-कल्याणी स्वरूप अभिनन्दनीय है। इस प्रकार कृष्ण और राधा का लोकमंगली रूप 'प्रियप्रवास' में है।

साकेत में राम ईश्वरावतार के रूप में प्रस्तुत हैं (इस दृष्टि से वे तुलसी के राम से भिन्न नहीं) परन्तु उनमें वही मर्यादा पुरुषोत्तम के गुणों का समावेश

है। उनमें आज्ञाकारी पुत्र और प्रजापालक राजा तथा जितेन्द्रिय
आदर्श समन्वित हुये हैं। साकेत के चरित्रों में दूसरा स्थान उर्मि
है जिसके कारण 'साकेत' की रचना करने की आवश्यकता कवि
उर्मिला का चरित्राङ्कन कवि ने अत्यन्त कौशल से किया है और
को राधा की परम्परा को बहुत सफलता के साथ ऊँचा उठाया है।
का चित्रण करने में गुप्तजी ने—यह कहा जा सकता है—
प्रबन्धत्व की भी चिन्ता छोड़ दी है। पाठकों का ध्यान उस पर
दिया है और उसे नायिका का पद तक दे दिया है। उधर
महत्व नहीं मिल सका है क्योंकि उनका व्यक्तित्व राम में
र कथा के अधिकांश सूत्र भी राम के ही साथ सम्बद्ध हैं।
रण ही उन सूत्रों में सबसे अधिक रङ्गीन और आकर्षक
ाकेत' में प्रबन्धात्मक ऐक्य या अनुपात सदोष हो गया है, यह
ौर उर्मिला दोनों के प्रति अति मोह के कारण हुआ।

'कामायनी' का प्रबन्धत्व केवल इतना ही है कि आदि
केवल मानसिक स्थितियों से अतिक्रमण करता हुआ एक से दो
और व्यक्ति का और इस प्रकार मानव सभ्यता का भौत्योय
वर्ग विभाजन तथा नियमानुशासन की प्रवृत्तियों का प्रवर्तक
इस प्रकार के वस्तु जगत के विकास की प्रतिक्रिया में पुनः उसके
में अन्तर्द्वन्द्व होने लगता है और उसका समाधान वह समरसता
यह कहा जा सकता है कि इसकी भी घटनायें मनात्मक ही हैं।
नाओं का वर्णन संयम और सांकेतिक रीति से ही हुआ है।
की सबसे बड़ी विशेषता मनु के अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करना है
मनु मनोविज्ञान भी है और आदि पुरुष भी। एक दोहरा
बना दिया है। इसके इस आन्तरिक विकास को ही इस
लगते हैं। कामायनी श्रद्धा और इड़ा दोनों के मध्य एक
द्वन्द्व में है और यह मन के दो पक्षों हृदय (श्रद्धा) और

के प्रतीक हैं। इन्हीं दोनों का संघर्ष और समन्वय 'कामायनी' का प्रतिपाद्य है। मनु केन्द्रिय व्यक्ति है और वही इसका नायक है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जाना चाहिये कि प्राचीन भारतीय महाकाव्य की शास्त्रीय कसौटी पर कसे जाने पर ये तीनों महाकाव्य किसी न किसी दृष्टि से अपर्याप्त भले ही सिद्ध हों परन्तु महाकाव्य की नवीन कसौटी, नवीन महिमा, नवीन रूपरेखा को दृष्टि में रखते हुए इन तीनों को 'महाकाव्य' ही कहेंगे।

मामिनि मिले परम सुख पायो, मङ्गल प्रथम करे।
करखों करज करयो कञ्चन ज्यों, अम्बुज उरज धरे।
आलिङ्गन दै अधर पान करि, खञ्जन खञ्ज हरे।

× × ×

श्याम कर मामिनि मुख सँवारेउ।
वमन तन दूरि कर सबल भुज अङ्क भरि,
काम रिस बाम पर निदरि मारेउ।
अधर दसननि मरे, कठिन कुच उर लरे,
परे सुख सेज मन एक दोऊ।
मनो कुम्भिनाथ रहे मैन से मल्ल दोउ,
कोक परवीन धरि नाहि कोऊ।

तथापि उद्देश्य की भिन्नता और पवित्रता इन भक्त-कवियों की काव्य-
[त] में स्पष्ट लक्षित होती है। इस ओर मिश्रबन्धुओं ने संकेत किया है—
[I] may be excused for mentioning that Sur Das
[ha]s, for instance, gone to the length of descri-
[bi]ng the Rati of Radha and Krishna, but even
[th]en the whole tone and spirit of his descriptio-
[n]s are so thoroughly untainted with sensuality,
[s]o free from any tinge of worldly pleasure, so
[st]oically austere in nature, indeed so refreshin-
[g]ly divine, that it is impossible for any sympath-
[et]ic and discriminating reader to suspect anyth-
[i]ng improper in them".

2nd Triennial Report on the search for
Hindi Manuscripts. pp 8-9.

पर ऐसी बात रीतिकालीन कवियों के वर्णन के विषय में नहीं कही
जा सकती है। यदि सूर, नन्ददास, हितहरिवंशजी आदि भक्त कवियों का

भामिनि मिले परम सुख पायो, मङ्गल प्रथम करे।
करों करज करयौ कञ्चन ज्यों, अम्बुज उरज धरे।
आलिङ्गन दै अधर पान करि, खञ्जन खञ्ज हरे।

× × ×

श्याम कर भामिनि मुख सँवारेउ।
बसन तन दूरि कर सबल भुज अङ्क भरि,
काम रिस बाम पर निदरि मारेउ।
अधर दसननि भरे, कठिन कुच उर लरे,
परे सुख सेज मन एक दोऊ।
मनो कुम्हिलाय रहे मैन से मल्ल दोउ,
कोक परवीन धरि नाहिं कोऊ।

तथापि उद्देश्य की भिन्नता और पवित्रता इन भक्त-कवियों की काव्य-
[illegible] में स्पष्ट लक्षित होती है। इस ओर मिश्रबन्धुओं ने संकेत किया है—
[illegible] may be excused for mentioning that Sur Das
[illegible], for instance, gone to the length of descri-
[illegible]g the Rati of Radha and Krishna, but even
[illegible]n the whole tone and spirit of his descriptio-
[illegible] are so thoroughly untainted with sensuality,
[illegible] free from any tinge of worldly pleasure, so
[illegible]pically austere in nature, indeed so refreshin-
[illegible] divine, that it is impossible for any sympath-
[illegible]c and discriminating reader to suspect anyth-
[illegible]g improper in them".

2nd Triennial Report on the search for
[illegible]ndi Manuscripts. pp 8-9.

पर ऐसी बात रीतिकालीन कवियों के वर्णन के विषय में नहीं कही
[illegible] सकती है। यदि सूर, नन्ददास, हितहरिवंशजी आदि भक्त कवियों का

हृदय स्वतः भगवान् के गुणगान में रमा हुआ था पूर्ण वाणी काव्य-धारा के रूप में निकल पड़ी है की वाणी में कृत्रिमता है। कला का चमत्कार है नहीं। रसराज के वर्णन के प्रसङ्ग में चिरकाल से राधा कृष्ण को भुला नहीं सके। ऐसा करने से की वाणी में भक्ति का प्राधान्य है और शृङ्गारिक वर्णन है किन्तु शृङ्गारी कवियों के बीच शृङ्गार वर्णन ही उसकी भव्य और माह्य रूप देने के लिए राधा-कृष्ण किया गया है।

अभिनय जयदेव विद्यापति के राधा कृष्ण विषयक महाकाव्य जयदेव की उक्ति की—'यदि हरिस्मरणे सरसं कलासु कुतूहलम्' याद हो आती है। यद्यपि कतिपय भक्त ही मानने का आग्रह दिखाया है तथापि कवि धार्मिक विश्वास की आलोचना करने पर ऐसा मानने को जी विद्यापति कवि थे। उनकी दृष्टि एक कवि की दृष्टि थी। वे या मत पुष्टि कर्त्ता न होकर एक युग धर्मानुसारी कवि थे। लक्ष्य था। उनकी काव्य प्रतिभा स्वाभाविक थी, कविता में काव्य कलेवर की कमनीयता के लिये उनके पास पाण्डित्य भूषण का भण्डार भी था। तभी उस कवि कोकिल की मिथिला के घर बन को प्लावित कर बङ्गाल के राधा कृष्ण लोक का वेसुध करने में समर्थ हुई। तब राधाकृष्ण प्रेम चैतन्य देव विद्यापति के पदों को गाते-गाते प्रेमावेश में मूर्छित हो पे। आज मिथिला की सुबह के सुबह कोकिल कण्ठ महिलाएँ नारी पुरुष प्रेम से विद्यापति के पद और नाचारियों को गा-गा कि आनन्द उठाया करते हैं। इस कोटि का कोई भी दूसरा कवि और हिन्दी का नहीं हुआ जिसे बङ्ग मानियों में बङ्गाली का प्रेमियों में हिन्दी भाषा का समादर प्रदान किया गया हो। यह

कि धर्म और साहित्य ने विद्यापति को अमर ही नहीं ऐसा सर्वप्रिय
गाने में समर्थ हुआ कि उनके पद अट्टालिकाओं से कुटिया तक में गूँजते
रहते हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि विद्यापति कृष्ण भक्त वैष्णव नहीं थे।

अभिनव जयदेव की समस्त रचनाओं के अध्ययन करने पर हम इस
निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मैथिल कोकिल शिव भक्त शैव थे। उन्होंने आत्म
निवेदन ईश्वर के सामने यदि किया है तो शिव-शक्ति के सामने ही। यद्यपि
हरि हर की एकता की स्थापना करते पाये जाते हैं किन्तु इसका एक
मात्र कारण इनका पुराणज्ञ होना है। इसी कारण शैव विद्यापति ने शिव
अभिन्न हरि में भी अपनी आस्था दिखाई है—

"भल हरि भल हर भल तुअ कला,
कखन पीतवसन खनहि मृगछला।"

तथा "माधव हम परिणाम निराशा" आदि एक दो प्रासङ्गिक
पदों के आधार पर इन्हें कृष्ण भक्त नहीं कह सकते हैं। इन्होंने शैव सर्वस्व-
सार, दुर्गा भक्ति तरङ्गिणी—इन ग्रन्थों की शिवोपासना तथा दुर्गोपासना
लिखा है। विष्णु की उपासना पर इनकी कोई रचना नहीं है। अपनी
इस परीक्षा में भी उपासना महत्व के प्रसङ्गों में शिवोपासना का ही ग्रहण
किया है। इसके अतिरिक्त उगना की किम्वदन्ती तथा 'लोढ़ब कुसुम तोरब
बेलपात, पूजब सदा शिव गौरीक साथ' जो जनतिहुँ होइता हर मोर उगना
रहितहुँ दास गुलाम।' आदि इनकी स्वोक्तियाँ इन्हें स्पष्ट रूप से शैव सिद्ध
करती हैं जिनमें शक्ति के प्रति परम निष्ठा और श्रद्धा परम आवश्यक है।
पुराण वेत्ता होने से पुराणों में प्रतिपादित शिव विष्णु की एकता में इनका
विश्वास था। लेकिन इससे हम उन्हें वैष्णव नहीं मान सकते। गो० तुलसी
ने भी इसका प्रतिपादन किया है। तो क्या गोस्वामीजी भी शैव कहला सकते
हैं? अतः विद्यापति को वैष्णव मतावलम्बी मानना समुचित नहीं। भले
ही इनकी राधाकृष्ण विषयक रचनाओं से अन्य सहृदय-जन राधाकृष्ण की
भक्ति की प्रेरणा पाई हो।

मैथिल-कोकिल की सुमधुर पदावली भक्त की ... कि ...
नन्ददास, हितहरिवंश आदि कृष्ण भक्तों के समान कृष्ण ...
इनकी वयः सन्धि में ईश्वर कृष्ण से सन्धि नहीं। इनके ...
का सार नहीं; यद्यपि स्थान-स्थान पर नोंक झोंक करते ...
को भगवान कृष्ण के उस परम पावन रूप की झाँकी देते ...
विधुरा राधिका को कृष्ण के भक्तोद्धारक रूप की स्मृति दि...
देते हुए इनको पाते हैं।

"हरिक संग किछु डर नहि रे,
तोहेँ परम गँवारा।

× × ×

"न बूझसि अबूझ गोआरी,
भजि रहु देव मुरारी, नहि ...

× × ×

"भन विद्यापति सुनु वरजौवति,
हरिक चरण कर सेवा।"

किन्तु कृष्ण को भगवान जानते हुए भी इनका हृदय तल्लीन नहीं दिखाई पड़ता है। उनका हृदय तो यही ...
"तथापि भेदः प्रतियतिरस्तु मे तथापि भक्तिस्तवरपेन्दु शेखरे ...
तक भक्ति भावना का विचार है उस दृष्टि से मैं विद्यापति
नन्ददास आदि कृष्ण भक्तों की श्रेणी में आसन नहीं दे सकता
परन्तु शक्ति और काव्य प्रतिभा की दृष्टि से इस शाखा के
कवि सूर से इनकी प्रतिभा किसी प्रकार न्यून नहीं है। इस दृष्टि
संस्कृत साहित्य के कालिदास, माघ, भारवि, अमरुक आदि ...
से किसी प्रकार न्यून नहीं दिखाई पड़ते।

तो क्या इस अभिनव जयदेव को रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों की पंक्ति में बैठाया जाय। लेकिन ऐसा करना न्याय-संगत नहीं मालूम पड़ता। ऐसा करना विद्यापति की प्रतिभा के साथ अन्याय होगा। यद्यपि रसराज शृङ्गार की प्रतिष्ठा में उसके सभी अङ्गों पर इनका ध्यान गया है तथा रीतिकालीन अन्य शृङ्गारी कवियों के समान इन्होंने भी अपनी रचनायें "राजा शिवसिंह रूपनारायन लखिमादेइ वरमाने" के लिए लिखी हैं तथापि कवि ने जिस कलापक्ष और भाव पक्ष का सफल निरूपण कर अपनी सहृदयता तथा प्रतिभा का परिचय दिया है, उसका रीतिबद्ध कविता लिखने वाले कवियों में अभाव है। विद्यापति की कवि प्रतिभा कहीं भी कुण्ठित नहीं। उस धारा में कहीं भी शिथिलता नहीं। कहीं भी खाना पूरी मात्र नहीं। विद्यापति की यही मार्मिकता एवं वर्णन की उमंग उन्हें देव, बिहारी, मतिराम आदि से अलग कर देती है। विद्यापति का उल्लास, और ललक इन से तनिक भी कम नहीं है। यद्यपि भक्ति की भावना का अभाव है, किन्तु इसका भी सर्वथा अभाव नहीं है। भक्तों का हृदय इनके पास अवश्य था जिसका परिचय इनकी नाचारियाँ दे रही हैं। अतः रीतिकालीन कवियों की श्रेणी में ये कदापि बैठाये नहीं जा सकते।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विद्यापति की वाणी में न्यूनाधिक मात्रा में भक्ति भावना तथा शृङ्गारिकता दोनों का बीज है और बाद में इन दोनों का विकास दो धाराओं में आगे चलकर हुआ। एक धारा भक्ति की रही जिसका विस्तार अष्टछाप के कवियों के द्वारा हुआ और दूसरी धारा रीति और शृङ्गार की रही जिसका विस्तार देव, मतिराम, बिहारी, घनानन्द आदि के द्वारा हुआ। आगे चलकर ये दोनों धारायें भारतेन्दुजी में एकाकार होगईं।

पद्मावत का रूपक

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित एक लेख
पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने यह प्रतिपादित किया था कि
कथा को विकृत करता है, और पद्मावत की कथा रूपक .
है। कथा और रूपक एक दूसरे के नितान्त अनुपयुक्त हैं
बड़थ्वाल का ही नहीं था, कुछ अन्य पाठकों और
है। प्रस्तुत लेख में इस मत के निराकरण की चे... की

पद्मावत की कथा समाप्त करते हुए उपसंहार में .
स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

"मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा।
कहा कि हम्ह किछु और न
चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुष के घट ..
तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा
गुरू सुआ जेहि पन्थ देखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा
नागमती यह दुनियाँ धन्धा।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा

राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥"

इस प्रकार सम्पूर्ण कथा को कवि ने रूपक सदृश बतलाया है। कथा में उल्लिखित विभिन्न पात्रों को उसने मनुष्य की विभिन्न मानसिक शक्तियों का प्रतीक अथवा प्रतिरूप माना है, और इस दार्शनिक मत की ओर संकेत किया है कि जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। उपर्युक्त वर्णन के अनुसार तन चित्तौर है, जहाँ के राजा रतनसेन ने पद्मावती को प्राप्त किया था। संकल्प विकल्पात्मक मन राजा रतनसेन है। रागात्मक हृदय सिंघल है, जहाँ की राजकुमारी पद्मावती थी। शुद्ध बुद्धि पद्मावती है। मार्ग-प्रदर्शक गुरु हीरामन तोता और रतनसेन की प्रथम राजमहिषी नागमती सांसारिक मोह है। राघव चेतन जिसने रतनसेन से विश्वासघात कर अलाउद्दीन को चित्तौर पर आक्रमण करने के लिए उकसाया, जीवात्मा को पथभ्रष्ट करने वाला शैतान है और अलाउद्दीन जीव को परमात्मा से विमुख करने वाली शक्ति माया का प्रतीक है।

जायसी ने कथा के लिए जो रूपक की कल्पना की है, उसमें समालोचकों को दो तीन बातें खटकती हैं।

पहली तो यह कि कवि ने कथा के प्रकरणों में इस रूपक का एक समान निर्वाह नहीं किया है। अधिकतर पद्मावती को परमात्मा और राजा रतनसेन को साधक जीवात्मा का रूपक दिया गया है।

करवत तपा लेहिं होइ चूरू।
मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदुरू॥

और,

देवता हाथ हाथ पगु लेहीं।
जहँ पगु धरैं सीस तहँ देहीं॥

माथे मान कोउ अग पावा।
चरन कमल लेइ सीस

इत्यादि पद्मावती के लिए और रतनसेन के लि..

तजा राज राजा भा जोगी।
औ किंगरी कर गहेउ

संसार अनित्य है, और परमात्मा की प्राप्ति ही

किन्तु सदैव राजा ही साधक के रूप में और
प्रदर्शित हों, ऐसा नहीं। एकाध स्थल पर पद्मावत
है, और जब अलाउद्दीन पद्मावती को प्राप्त करने
वह भी जीवात्मा के रूप में दिखलाया गया है
लिए प्रयत्न-शील है।

उपसंहार में सिंहल को हृदय का प्रतिरूप
महेश-खण्ड में सिंहलगढ़ को पिंड का रूपक है.

नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा,
औ तहँ फिरहिं पाँच

दसवँ दुवार गुपुत एक ताका
अगम चढ़ाव बाट

इत्यादि, यह बात पद्मावत के रूपक की
महत्व की है कि अन्त में बतलाए गए . .
समान निर्वाह नहीं हुआ है।

दूसरी खटकने वाली बात यह है कि
रूप, गुण और प्रभाव का साम्य नहीं है।
विवाहिता रानी थी। उसे दुनिया धन्धा
भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं विदित

भी और राजा की मृत्यु के बाद सती हो गई। उसे दुनिया धन्धा कहना ठीक नहीं मालूम होता।

अलाउद्दीन और माया में भी विश्वसनीय साम्य नहीं दिखलाई पड़ता। जब नागमती को दुनियाँ धन्धा कह दिया तो पुनः अलाउद्दीन को माया कहना उसी रूपक को दुहराना है।

समालोचकों की दृष्टि से तीसरा दोष यह है कि अप्रस्तुतों के समवाय का जो पारस्परिक सम्बन्ध है और कार्य-व्यापार है वह प्रस्तुतों के पारस्परिक सम्बन्ध और कृत्यों को पूर्णतः नहीं प्रगट करता और न उनके अनुकूल है। जब रूपक बाँधा जाता है, तो यह विचार रखा जाता है कि प्रस्तुतों का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, और उनका जो काय व्यापार है उसी के समान अप्रस्तुतों का भी पारस्परिक सम्बन्ध और कार्य व्यापार हो।

राजा रतनसेन कथा के नायक हैं, पद्मावती नायिका है। नागमती उनकी प्रथम विवाहिता है चित्तौर उनकी राजधानी है और सिंहल उनकी प्रेमिका पद्मावती का जन्मस्थान है। हीरामन तोता ने रतनसेन को पद्मावती का और पद्मावती को रतनसेन का समाचार दिया था। रतनसेन के एक दरबारी राघवचेतन ने अलाउद्दीन को चित्तौर पर पद्मावती को हस्तगत करने के उद्देश्य से, चढ़ाई करने को उकसाया। देवपाल राजा का शत्रु था जिसने दूती द्वारा पद्मावती को राजा के बन्दी होने पर अपनी अङ्क-शायिनी बनाना चाहा। इसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध अप्रस्तुतों में भी शरीर, मन, हृदय, बुद्धि, गुरु, दुनिया—धन्धा, शैतान, माया इत्यादि में होना चाहिए पर बात ऐसी नहीं है। कवि ने जब शरीर को चित्तौर कहा और पूर्व में जब यह संकेत किया कि चौदहों लोक मानव के शरीर में ही हैं तब सभी अप्रस्तुतों को शरीर के भीतर से ही चुनना चाहिए था। पर गुरु और शैतान, यदि माया को हम छोड़ देते हैं तो, मनुष्य के बाहर के तत्व हैं। फिर मन, हृदय, बुद्धि इत्यादि में वही सम्बन्ध नहीं है जो रतनसेन, सिंहल और पद्मावती में था। सांसारिक जञ्जाल और माया

का भी भेद स्पष्ट नहीं है और यदि दोनों में अन्तर भी
सकता है तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही नहीं होता
और अलाउद्दीन का है।

पद्मावत के रूपक के ये स्पष्ट दिखलाई पड़ने वाले
डा० पीताम्बरदत्त ने कहा कि पद्मावत का रूपक कथा को

यदि हम उपसंहार में लिखे गये वाक्यों को ही
और प्रेरक-भाव और कथा को समझने की कुञ्जी समझ
का प्रतिपादन नितान्त स्वाभाविक हो जाता है। किन्तु
यह अर्थ लगाना समालोचना की एक बड़ी भूल है।
अंग्रेज कवि स्पेंसर की 'फेअरी क्वीन' में सर वाल्टर रैले
गया रूपक समस्त कथा का आधार और उसको समझने
प्रकार पद्मावत का उपर्युक्त संकेत नहीं। पद्मावत उस
काव्य नहीं है जिस कोटि के प्रबोध-चन्द्रोदय, फ्रेअरी
प्रोग्रेस (गद्य में है) इन ग्रन्थों में रूपक का निर्वाह या
(फेअरी क्वीन अपूर्ण रचना है) किया गया है और
साहित्यिक सौन्दर्य बढ़ जाता है किन्तु पद्मावत में
नहीं किया गया है।

रूपक काव्य में सभी प्रस्तुतों के लिए अप्रस्तुत
पद्मावत में ऐसा कहीं किया गया है। देवपाल,
बादल, रत्नसेन इत्यादि के लिए उपमानों का कोई
यही नहीं, जैसा मैंने पहले लिखा है, एक ही अप्रस्तुत
प्रस्तुत और कभी दूसरे का प्रयोग हुआ है।

मेरे विचार से जायसी का उद्देश्य रूपक-काव्य
होता तो रूपक का निर्वाह करने में उन्होंने
होता। वह तो मसनवी के ढङ्ग का एक प्रबन्ध-काव्य
कथा कहने में ही वे तल्लीन दिखायी पड़ते हैं।

रूपक का निर्वाह करने में नहीं है पर यत्र-तत्र अत्यन्त मनोहर रहस्यात्मक संकेत का विधान करने में है। ग्रन्थ के प्रारम्भ से ही उन्होंने सुन्दर आध्यात्मिक संकेत करना प्रारम्भ किया है :—

"सिंहल दीप कथा अब गावौं।
औ सो पदमिनि बरनि सुनावौं॥
निरमल दरपन भाँति बिसेखा।
जो जेहि रूप सो तैसइ देखा॥

और बीच-बीच में जीवन की असारता, जैसे—

'मुहमद जीवन-जल भरन, रहँट घरी कै रीति।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति॥'

सारे विश्व का परमात्मा के लिए प्रयत्नशील होना—

'सरवर रूप बिमोहा, हिये हिलोरहि लेइ।
पाँव छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहि देइ॥'

परमात्मा सारे जगत में व्याप्त है किन्तु पकड़ में नहीं आता, यथा—

'सरवर देख एक मैं सोई।
रहा पानि, पै पान न होई॥
सरग आइ धरती महँ छावा।
रहा धरति, पै धरत न आवा॥'

इत्यादि भावों की ओर संकेत करते चलते हैं। यह प्रवृत्ति पद्मावत की विशेषता है और इसी की परिणति उपसंहार में होती है। ग्रन्थ के अन्त में कवि सारी कथा को एक दार्शनिक तथा आध्यात्मिक रूप देना चाहता है और कहता है—मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा। इत्यादि। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि कवि यह नहीं कहता कि कथा रूपक है और उसको समझने की यह विधि है पर वह कहता है कि पण्डित लोगों ने—मेरा अपना यह कथा-विधान नहीं—सारी सृष्टि को—केवल इसी कथा

प्रकरणों और घटनाओं को नहीं—मनुष्य के ...
बतलाया है।

उपसंहार को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह नहीं विदित ...
कवि की प्रबन्ध-रचना का आधार या आवश्यक अङ्ग है ...
जायसी ने अन्त में कहा है वह अपनी दार्शनिक ... ि
के कारण।

यदि पद्मावत के रूपक पर प्रकाश डालने वाले कथन
...ग्धतापूर्ण आध्यात्मिक संकेत के रूप में हम ग्रहण करें तो
दोष स्वतः विलीयमान हो जाते हैं और ग्रन्थ का ...
सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। पद्मावत का रूपक काव्य न
...वि नहीं है। रूपक काव्य कोई उत्तम काव्य नहीं होता।
कौशल अवश्य दर्शनीय होता है किन्तु उसी के साथ उसमें
व्यायाम भी होता है और काव्यगत प्रतीति को ठेस ...
एक अत्यन्त विदग्धतापूर्ण प्रबन्धकाव्य है। किन्तु वह ...
सिद्ध नहीं होता।

'चन्द्रावली' में भारतेन्दु की 'भक्ति भावना'

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वल्लभ सम्प्रदाय के वैष्णव थे। "तदीय अनन्य वीर वैष्णव" का पद धारण करते समय उन्होंने प्रधानतः तीन बातें कही थीं :—(१) "हम केवल परम प्रेममय भगवान श्री राधिकारमण का ही भजन करेंगे" (२) "हम भगवान से किसी कामना के हेतु प्रार्थना न करेंगे"....(३) युगल स्वरूप में हम भेद दृष्टि न देखेंगे।" उनके परिवार में भी युगल स्वरूप की उपासना होती थी जिसके अनुयायी दर्शक रूप से युगल मूर्ति की अनेक लीलाओं में सम्मिलित होकर तज्जन्य आनन्द प्राप्त करते थे। भारतेन्दु की भक्ति भावना का यह सैद्धान्तिक पक्ष 'पुष्टिमार्ग' के अन्तर्गत है। 'चन्द्रावली नाटिका' में उनके इस अपने मत का स्पष्टीकरण ही नहीं अपितु उसका निर्माण ही इसके प्रतिपादन के लिए हुआ है। उनका उद्देश्य ही इसका निरूपण है जिसका दर्शन नाटिका में आदि से अन्त तक होता है।

आरम्भ में समर्पण की पंक्तियों में ही लिखा है—"इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है।" नान्दीपाठ में उन्होंने कृष्णभक्ति के प्रतिपादन की ओर संकेत किया है—

> "नेति नेति तत् शब्द प्रतिपाद्य सर्व भगवान
> चन्द्रावली चकोर, श्रीकृष्ण करो कल्यान।"

वह 'भवन दुखद' और 'भव भय हरन' है। शुकदेव की आँखें जिन उस लीला को देखें व्याकुल हो रही हैं। 'विष्कम्भक' में उन्होंने "परम

प्रेम अमृतमय एकान्त भक्ति" की चर्चा की है। दूसरे में पुनः चन्द्रावली ने इसी भक्ति या प्रेम का उल्लेख, ने 'युगल रूप छवि अमित' कह कर इसका संकेत विष्कम्भक में ही 'बिहरी दे गलबाँही' कह कर युगल है। नाटिका के अन्त में तो भारतेन्दु ने कृष्ण और देकर बैठा ही दिया और सखियों द्वारा—जो 'पुष्टि कराई है। "........बस अब हमारो दोउन की यही गलबाँही दै के विराजौ........हम युगल जोड़ी को सफल कर।" यहाँ पर युगल उपासना का स्वरूप ....

'पुष्टिमार्ग' में परम प्रेम-वृत्ति का प्राधान्य है। 'प्रेमन' सखियों को दूसरी दिखाई ही नहीं देती। 'अकथनीय और अवर्णनीय' हो गया है! "कितना चाहती हूँ कि यह ध्यान भुला दूँ पर ही नहीं।" नेत्रों के लिए पता ही नहीं .... हैं। दूध में जल की तरह वह कृष्ण से एकरस हो उसकी प्रेम-साधना की चरम कसौटी है। ललि जब देखा तब एक ही दशा में देखा।" दासी के पड़ी रही" से व्यञ्जित होता है—उसका अनुराग भर का कार्य भूल कर कृष्ण के स्मरण में ही एकत्व का सब से बड़ा प्रमाण है दर्पण-दर्शन। अपना मुँह इसलिए देखती है कि उसके नेत्रों में है, उसके दर्शन हो जाते हैं—

"तेरे नैन मूरति पियारे की बसति,
आरसी में रैन दिन

इसीलिए शुकदेव के शब्दों में वह "धन्य अपने प्रेम से पवित्र करने वाली है।"

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत जीव 'पुष्टि-जीव' हैं। उनके लिए सांसारिक मर्यादा-सम्बन्धी बन्धनों की छूट वल्लभाचार्य ने देदी थी। गोपियाँ मुरली की ध्वनि सुन कर कुल मर्यादा की उपेक्षा कर, अपने पतिदेवों की चिन्ता न कर कृष्ण के साथ विहार करती हैं—रास-क्रीड़ा होती है। लेकिन यह दोष नहीं है। अतः इस भक्ति में एक प्रकार से मर्यादा का त्याग आवश्यक ही होता है। चन्द्रावली का प्रेम विलक्षण ही इसलिए है कि माता पिता, बन्धु-बान्धवों के निषेध का भय होने पर भी चिन्तित न होकर वह कृष्ण के प्रेम में तन्मय रहती है। नारद ने इसका उल्लेख किया है—

"जिन तुन सम कुल लाज निगड़ सब तोरयो हरि रस माँहीं।"

विशाखा कहती है—

"करत ज्ञान संसार जाल तजि बरु बदनामी कोटि सहौ री।"

और स्वयं जोगिनी ने कहा है—

"है पन्थ हमारा नैनों के मत जाना।
कुल लोक वेद सब औ परलोक मिटाना॥"

पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत उपास्य के अनुग्रह पर बहुत जोर दिया जाता है। अनुग्रह द्वारा ही गोलोक विहार हो सकता है। अतः इसमें कृष्ण का सर्व-प्रमुख स्थान है। प्रस्तुत नाटिका में यथास्थान इसकी भी चर्चा है—

१—"निश्चय, बिना तुम्हारी कृपा के इसका भेद कोई नहीं जानता।"
—चन्द्रावली

२—"युगल अनुग्रह बिना इस अकथ आनन्द का अनुभव और किसको है!"
—ललिता

३—"यह अमृत तो उसी को मिलता है जिसे तुम आप देते हो।"
—चन्द्रावली

इसी से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि 'पुष्टि जीव' ही उस अखण्ड आनन्दमय प्रेम को प्राप्त करने के वास्तविक अधिकारी हो सकते हैं। यह

हीं होता। भारतेन्दु ने 'चन्द्रावली नाटिका' में इसका स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है।

जब भक्ति प्रेम लक्षणा मूलक होती है तो उसमें तीव्र विरहानुभूति भी आवश्यक हो जाती है। विरह प्रेम की सच्ची कसौटी है। स्वयं कृष्ण ने नाटिका में कहा है—"हमारे प्रेमिन कौं हमसों हू हमारो विरह प्यारो है" क्योंकि "या निठुरता में जो प्रेमी है तिनकौ तो प्रेम और बढ़ै और जे कच्चे हैं तिनके बात खुल जाय।" इसलिए चन्द्रावली के विरह की प्रत्येक दशा का चित्रण इस नाटिका में हुआ है। कभी उसका मन भाग जाता है, कभी नेत्र "विष के बुझे छुरे" प्रतीत होते हैं। कभी वह रोती है, हँसती है, गाती है और कभी कोस कोस कर प्रिय को उपालम्भ देती है।

१—"मनमोहि जो तोरन ही की हुती
प्राणनाथ के क्यों बदनाम कियो......"

२—"कित कौ ढरिगौ वह प्यार सबै
क्यों रुखाई नई यह साजत हौ......"

कभी बादलों को देख कर उसे घनश्याम का स्मरण हो आता है तो कभी जायसी की नागमती की तरह वह कहने लगती है "सब सखियाँ हिंडोले झूलती होंगी, पर मैं किसके संग झूलूँ!" विरह में सुखद वस्तुएँ भी दुखद हो जाती हैं। चन्द्रावली को प्रतीत होता है सूर्य उसी के दुःख को हँसने के लिये निकला है और—

"हँसिबे हीं पिय प्यारे तिहारे
दिवाकर रूमत हैं क्यों बताइये"

'चिन्ता', 'उद्वेग', 'प्रलाप', यहाँ तक कि 'मरण' आदि अवस्थायें भी इसमें पूरी मिलती हैं। "छुटी सी, छकी सी, जड़ भई सी जकी सी" वाले कवित्त में तो विरह की सभी दशाओं का एक साथ वर्णन कर दिया गया है। इसके कमेन ब्रज का उल्लेख है मार डालो पर मुँह से आह तक न निकले! परम्परागत उपमान 'चातक' और 'मीन' को भी लाया गया है। साथ ही अनेक

पशु पक्षियों से सन्देश भी भेजा गया है। 'भ्रमर,' 'पपीहा', आदि—इतनों से एक साथ सन्देश भेजे ... की तीव्रता का सूचक है। उसके साथ ही घनानन्द मीरा की भी हृदय स्पर्शिता है। यह सारा विरह भावना को स्पष्ट करता है।

प्रस्तुत नायिका में प्रिय से सम्बद्ध वस्तुओं में ... दर्शन कराया गया है। शुकदेव की बन्दी का ... दिखाता है, तो नारद की आकांक्षा है—"ब्रज के ... ब्र-भूमि की धूल तक को धन्य कहा गया है। छप्पय लिखे गए हैं—कृष्ण का यमुना-तट से ... वृन्दावन की प्रशस्ति में भी स्थान-स्थान पर ...

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है ... में भारतेन्दु ने अपने भक्ति सम्बन्धी ... प्रतिपादन किया है जो पुष्टि सम्प्रदाय के ... से सम्बन्ध रखते हैं। इतना अवश्य है कि कहीं ... भावना अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गई है ... लगती है जो स्वभावतः नैतिक दृष्टि से उचित न ... साम्प्रदायिक प्रेम सिद्धान्तों की सीमा के ... परिहार हो सकता है।

हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन तथा नामकरण

समाज और साहित्य परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हुये आगे बढ़ते हैं। जैसी परिस्थिति समाज में होती है उसके अनुरूप ही तत्कालीन साहित्य बनता है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से ही साहित्य विशेष का अध्ययन उसके सही-सही आकलन में सहायक हो सकता है। हिन्दी के विद्वानों ने भी अध्ययन की सुविधा के लिये वर्णन पद्धति, वर्ण्य विषय या प्रवृत्ति आदि को ध्यान में रखकर अपने साहित्य का वर्गीकरण किया है जिनमें मिश्रबन्धु, डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा प्रभृति सज्जन मुख्य हैं। प्रस्तुत निबन्ध में शुक्लजी के इतिहास को ध्यान में रखकर निम्न बातों पर विचार किया जायगा :—१ उनके द्वारा हिन्दी साहित्य का काल विभाजन, २. प्रवृत्तियों के आधार पर उनका नामकरण, ३. अन्य विद्वानों के और सुझाव।

शुक्लजी ने सं० १०५० से हिन्दी साहित्य का आरम्भ माना है। किन्तु हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं कि यहीं से उसका आरम्भ माना जाय पता यह नहीं चलता कि कहाँ पर अपभ्रंश की परम्परा समाप्त हुई और कहाँ से पहली बार हिन्दी का प्रयोग हुआ। युग विशेष के आरम्भ की तिथि किसी आधार पर होती है। जैसे सन् १९४७ भारतीय इतिहास में नवीन युग की तिथि है—स्वतन्त्रता प्राप्ति के कारण। सन् १९३६—३७ से 'प्रगतिवाद' का हिन्दी में आरम्भ माना जाता है क्योंकि यह समय 'प्रगति

हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन तथा नामकरण

समाज और साहित्य परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हुये आगे बढ़ते हैं। जैसी परिस्थिति समाज में होती है उसके अनुरूप ही तत्कालीन साहित्य बनता है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से ही साहित्य विशेष का अध्ययन उसके सही-सही आकलन में सहायक हो सकता है। हिन्दी के विद्वानों ने भी अध्ययन की सुविधा के लिये वर्णन पद्धति, वर्ण्य विषय या प्रवृत्ति आदि को ध्यान में रखकर अपने साहित्य का वर्गीकरण किया है जिनमें मिश्रबन्धु, डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा प्रभृति सज्जन मुख्य हैं। प्रस्तुत निबन्ध में शुक्लजी के इतिहास को ध्यान में रखकर निम्न बातों पर विचार किया जायगा :—१ उनके द्वारा हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन, २. प्रवृत्तियों के आधार पर उनका नामकरण, ३. अन्य विद्वानों के और सुझाव।

शुक्लजी ने सं० १०५० से हिन्दी साहित्य का आरम्भ माना है। किन्तु हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं कि यहीं से उसका आरम्भ माना जाय। पता यह नहीं चलता कि कहाँ पर अपभ्रंश की परम्परा समाप्त हुई और कहाँ से पहली बार हिन्दी का प्रयोग हुआ। युग विशेष के आरम्भ की तिथि किसी आधार पर होती है। जैसे सन् १९४७ भारतीय इतिहास में नवीन युग की तिथि है—स्वतन्त्रता प्राप्ति के कारण। सन् १९३६—३७ से 'प्रगतिवाद' का हिन्दी में आरम्भ माना जाता है क्योंकि यह समय 'प्रगति

दीन प्रेरक मेद' की म्रवना का है। हिन्दी साहित्
गाथा को इसी कारण यदि कोई गोरखनाथ तक पहले
अपभ्रंश रचनाओं का प्रश्न उठता है जो १४—१
रही। उन्हें शुद्धतः रचना भी नहीं कहा जा सकता। व
का सीमा-निर्धारण कम किया जाय? समय की अवधि,
कला, साहित्य की प्रवृत्ति—किसी भी दृष्टि से
निश्चित नहीं है। इसी कारण यदि मिश्रबन्धुओं ने हिन्
प्रकरण' का आरम्भ सं० ७०० से किया है, तो डा
सं० ७५० से सं० १००० तक की सामग्री भी अपने इ
सम्मिलित कर ली है। काशीप्रसाद जायसवाल ने १० व
उत्पत्ति बताई है।

इसी प्रकार सं० १३७५ से ही पूर्व मध्यकाल का
जाय? वह तिथि सं० १३०० या सं० १४०० भी तो हो
श्यामसुन्दरदास ने सं० १४०० से आरम्भ माना भी है।
निर्दिष्ट 'प्रौढ़ माध्यमिक काल' सं० १५६१ से चलता है।
इस विभाजक रेखा वाली किसी महत्वपूर्ण कृति का उल्ले
उत्तर मध्यकाल तथा आधुनिक काल के काल निर्धारण
श्यामसुन्दरदास, डा० वर्मा उनसे सहमत हैं।

शुक्ल जी ने 'नामकरण' प्रवृत्तियों की प्रधानता के
है। जिस समय जिन रचनाओं की अधिकता रही उन्हीं
पर नाम रखा गया। इतिहास के 'वक्तव्य' में उन्होंने इसे स्
(१) "विशेष ढङ्ग की रचनाओं की प्रचुरता" (२) "ग्रन्थों
जिस एक ढङ्ग के ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध रहे हैं उस ढङ्ग की र
लक्षण के अन्तर्गत मानी जायेगी'। उस काल विशेष में दूसरी
नाएं भी होती रहीं लेकिन "रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के
इनका नामकरण किया गया है।" फलतः शुक्लजी ने

आधार पर पहले काल का नामकरण किया 'वीर गाथा काल' क्योंकि इन पुस्तकों में तीन को छोड़कर शेष पुस्तकें वीरगाथात्मक हैं।

तत्कालीन मूल सामग्री का अध्ययन करने वाले विद्वान हैं:—मुनि जिन विजय, मोतीलाल मेनारिया, डा० हीरालाल, अगरचन्द नाहटा, सूर्यकरण पारीक आदि। इसमें जैन कवियों की तथाकथित धार्मिक रचनायें भी सम्मिलित हैं। इन सब के अध्ययन के फलस्वरूप शुक्लजी की गिनाई गई ६ पुस्तकों में—(१) 'खुमान रासो' १६ वीं० का सिद्ध हुआ है, (२) 'बीसली देव रासो' संदिग्ध है और वीर गाथात्मक भी नहीं है, (३) 'हम्मीर रासो' में 'हम्मीर' शब्द आपत्ति जनक है क्योंकि वह एक ही राजा के लिए प्रयुक्त न होकर अनेक राजाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, (४) 'जयचन्द्रप्रकाश' भी नोटिस मात्र है, (५) भट्ट केदार भी जयचन्द का दरबारी कवि नहीं मालूम पड़ता। इन सब का उल्लेख डा० हजारीप्रसाद जी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' पुस्तक के अन्तर्गत कर दिया है। सो शुक्लजी द्वारा परिगणित ६ पुस्तकें प्रामाणिक नहीं ठहरतीं। भाषा की प्राचीनता वर्तमान कालिक क्रिया के प्रयोग से भी उन्हें प्राचीन मानना ठीक नहीं क्योंकि ये तो डिङ्गल काव्य की विशेषताएँ ही हैं जिसका उदाहरण १६ वीं सदी में रचित 'वंश भास्कर' है।

अब रहा 'पृथ्वीराज रासो'। आधुनिक रूप में इसको विद्वान तत्कालीन रचना ही नहीं मानते। स्वयं शुक्ल जी ने उसे 'जाली' ठहराया है। डा० रामकुमार का कहना है—"आज तक की सामग्री के सहारे 'रासो' को प्रामाणिक ग्रंथ कहना इतिहास और साहित्य के आदर्शों की उपेक्षा करना है।" डा० हजारीप्रसादजी चन्द वरदाई को हिन्दी के प्रारम्भिक कवि होने की अपेक्षा अपभ्रंश परम्परा का कवि अधिक मानते हैं। यदि हम और गहराई में उतरकर देखें तो तत्कालीन मूल प्रवृत्ति भी वीरत्व-मूलक न होकर शृङ्गार-मूलक मालूम पड़ती है। प्रेम आदि के प्रदर्शन में वीरता सम्बन्धी प्रवृत्ति का आयोजन होता था—अर्थात् वीरत्व गौण भावना थी। एक

डाक्टर साहब ने हमें बतलाया था कि 'बीसलदेव रासो
मानना शिक्षितों का काम नहीं है। वह आद्योपान्त

फिर शुक्लजी ने मिश्रबन्धुओं द्वारा उल्लिखित अनेक
निरूपण' वाली कह कर हटा दिया है, उनकी प्रवृत्ति पर
है जब कि धर्म साधना सारे मध्यकालीन कवियों, भक्तों
प्रेरणा थी। तब तो सूरदास के अनेक पदों को 'पद्मिनी'
तथा तुलसी के 'रामचरित मानस' से भी सम्भवतः
इतनी विशाल परम्परा वाले सिद्ध नाथों की वाणी को
कर वे उपेक्षित कर गए हैं। उनका विशेष प्रवृत्ति वाला
नहीं होता। अतः 'वीरगाथा काल' नाम उपयुक्त नहीं है।

'भक्तिकाल' को 'निर्गुण', 'सगुण' धाराओं में बाँट कर
के पुनः दो विभाग किए हैं। पहले में 'ज्ञानाश्रयी'–'प्रेमाश्रयी'
दूसरे की 'रामभक्ति'–'कृष्णभक्ति' शाखाएँ। 'ज्ञानाश्रयी
कबीर को पहला और प्रधान कवि मानते हैं। लेकिन
से लगता है उनमें ज्ञान तत्व की उतनी प्रधानता नहीं है
की। दूसरे तत्व वाली रचनाएँ ही सुलझी हुईं, अतः मार्मि
टि से हिन्दी साहित्य की सम्पूर्ण सन्त-परम्परा—चरनदा
आदि तक—इस शाखा के अन्तर्गत आ जाती है।
ज्ञान का गौरव कहाँ है? उसके उपयुक्त ठोस विवेचन
ऊपरी शब्दों को पकड़ चलना, भीतरी कोठों की गिनी गिन
कर देना ही 'ज्ञान' नहीं है और शायद शुक्लजी भी इतना
अतः सभी सन्त कवियों को ज्ञान के गुमान से पूर्ण नहीं मानना

सूफी कवियों को भी उन्होंने 'भक्त कवि' माना है।
र्य शर्त है भक्त का दैन्य भाव तथा उपास्य के प्रति पूर्ण
स्य इस कसौटी पर नहीं उतरते हैं। जब कि इन सूफ़ी
दुःख बस उनकी भक्ति का सम्बन्ध न हो कर इनकी

अवलम्बन है। अतः उनकी रचनाओं को 'भक्ति-काव्य' के अन्तर्गत नहं लिया जा सकता। डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है—"सिद्धान्त, रूपक और अभिव्यक्ति—तीनों ही दृष्टियों से शुक्लजी की प्रेमाश्रयी शाखा को भक्ति-काव्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता।"

उनका दिया हुआ नाम 'रीतिकाल' भी दोष रहित नहीं है। वह केवल एक प्रवृत्ति विशेष या वर्णन पद्धति का सूचक है। ५७ कवियों का वर्णन तो उन्होंने 'रीति ग्रन्थकार' कवियों के अन्तर्गत कर दिया और ४६ कवियों को 'रीतिकाल के अन्य कवि' कह कर फुटकर खाते में डाल दिया। जिनमें कुछ प्रबन्धकार थे, कुछ 'वर्णनात्मक प्रबन्धकार' और कुछ नीति या शृङ्गार विषयक रचना करने वाले। पहले ५७ कवियों के लिए तो 'रीतिकाल' नाम उपयुक्त माना भी जा सकता है लेकिन उसमें ४६ कवियों को लेने की व्यापकता नहीं है। इसलिए उनका दिया हुआ नाम 'अव्याप्त' है। इसलिए भी खटकता है कि उसके अन्तर्गत घनानन्द, बोधा जैसे वाणी के रससिद्ध कवि नहीं आ पाते। नाम तो इतना व्यापक रखना चाहिए जो सब उपलब्ध रचनाओं को समाविष्ट कर ले। इसी आधार पर हम मिश्र-बन्धुओं द्वारा दिये गये अनेक नामों को उपयुक्त नहीं मानते। और यह भी तो सम्भव है कि इन अतिरिक्त कवियों की संख्या मुख्य कवियों से भी अधिक रही हो। सर्व साधारण में अधिक प्रिय होने से उनकी रचनाएँ जनता की ही सम्पत्ति बन गई हों।

५. आधुनिक काल को उन्होंने 'गद्य काल' नाम दिया है। यह बहुत कुछ सही माना जा सकता है क्योंकि इस समय गद्य में ही रचनाएँ अधिक हुई। संख्या में भी गद्य की पुस्तकें अधिक हैं। गद्य के ही अङ्गों-उपाङ्गों का—नाटक उपन्यास, कहानी आदि—विशेष विकास हुआ। हिन्दी साहित्य में यह सब नवीन वस्तु थी। फिर भी आधुनिक काल में कविता की रचना कम नहीं हुई। बल्कि इस कविता का तो सारे हिन्दी साहित्य की काव्य-परम्परा में अपना विशिष्ट महत्व भी है। इस प्रकार आधुनिक काल में

पर न चलने वाले स्वच्छन्द कवि भी प्रेम की व्यञ्जना कर चले हैं जिनमें घनानन्द का स्वर सबसे ऊँचा है। मिश्रजी के नामकरण के अन्तर्गत इन सब ४६ कवियों की रचनाओं की विशेषताएँ भी आ जाती हैं। दूसरी बात यह कि शुक्लजी को 'रीतिकाल' का उपविभाग करने का कोई 'संगत आधार' नहीं मिला। मिश्रजी ने 'शृङ्गार-काल' का उपयुक्त विभाजन भी किया है। (१) 'रीति बद्ध' जिसके अन्तर्गत 'लक्षणबद्ध' तथा 'लक्ष्य मात्र' ग्रन्थ आ सकते हैं, (२) 'रीति मुक्त' यह सभी प्रकार की रचनाओं पर 'फिट' बैठता है।

आधुनिक काल को भी, वर्ण्य वस्तु को ध्यान में रखकर कोई 'प्रेमकाल' कहना उचित समझते हैं। क्योंकि प्रेम वृत्ति की प्रधानता ही—औसत की दृष्टि से भी—गद्य-पद्य रचनाओं में है। शुक्ल द्वारा निरूपित हिन्दी काव्य के तीन उत्थानों को कुछ विद्वान क्रमशः 'भारतेन्दु युग', 'द्विवेदी युग' और 'छायावाद युग' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इधर श्री शम्भूनाथसिंह ने अपनी पुस्तक 'छायावाद युग' में इनको 'सँक्रांति युग', 'पुनरुत्थान युग', 'विद्रोह युग' कहना ठीक समझा है।

तात्पर्य यह कि आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया हिन्दी साहित्य का काल विभाजन तथा नामकरण बहुत युक्तियुक्त मालूम नहीं पड़ता। 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका तैयार करते समय उनके सम्मुख हिन्दी साहित्य की "सात आठ सौ वर्षों की संचित ग्रन्थ राशि" लगी हुई थी और चूँकि इसका एक व्यवस्थित ढाँचा तैयार करना था, अतः शुद्ध प्रवृत्तियों के आधार पर उन्होंने इसे इधर-उधर बाँट दिया है। हाँ, मिश्रबन्धुओं आदि की अपेक्षा उनका कार्य स्तुत्य अवश्य है क्योंकि सात-आठ परिचयात्मक पुस्तकें होने पर भी केवल 'कवि कीर्तन' उनका उद्देश्य नहीं रहा। इसलिए अधिक से अधिक उनके इतिहास का ऐतिहासिक महत्व ही माना जा सकता है। यह एक निर्देशक या Mile-stone अवश्य है लेकिन अपने में पूर्ण सही नहीं है।

रूपक को और भी खोल दिया है और अपनी कथा के विविध प्रसंगों तथा पात्रों को ईश्वर प्रेम के विविध अवयवों का द्योतक बतलाया है। इस प्रकार उनकी पूरी कथा एक महान् अन्योक्ति ठहरती है। सभी प्रत्यक्ष वर्णन अप्रत्यक्ष की ओर संकेत करते हैं, कवि की दृष्टि से स्वतः उनका विशेष महत्त्व नहीं।" (हिन्दी भाषा और साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास)।

श्री चन्द्रबली पाण्डेय अपनी पुस्तक 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' में प्रतीक शीर्षकान्तर्गत लिखते हैं—सूफियों की रचना में समासोक्ति का चाहे जितना विधान हो और रूपक का चाहे जितना संस्कार हो, पर वस्तुतः सूफी अन्योक्ति के ही भक्त हैं। उनकी अन्योक्ति में हृदय का दुराव है, अलौकिकता का स्वांग नहीं।" देखिये:—केवल साधक ही उस अज्ञात प्रियतम की अनुभूति प्राप्त कर सकता है। बिना साधना के उस पास में आये हुये असीम, प्रियतम को पहचाना ही नहीं जा सकता।

भँवर आइ बन खण्ड सन लेइ कँवल कै बास।
दादुर बास न पावई भलहि जो आछै पास॥

× × × ×

जिन्ह एहि हाट न लीन्ह बेसाहा; ताकहँ आन हाट कित लाहा।
कोई करै बेसाहनी, काहू केर बिकाइ।
कोई चले लाभ सन कोई मूर गँवाइ॥

इस विश्व रूपी पण्य में आकर जिस प्राणी ने साधना के द्वारा कुछ प्राप्त नहीं किया उसका जन्म ग्रहण करना व्यर्थ है।

साधना के क्षेत्र में जायसी साधनात्मक रहस्यवाद (योग, तन्त्र, रसायनादि) को मानते हैं। योग मार्ग में नाभि के नीचे स्थित कुण्डलिनी को जाग्रत कर सुषुम्ना नाड़ी के भीतर से हृत्कमल और बारह चक्रों को पार कर ब्रह्मरंध्र या मूर्द्ध-ज्योति तक ले जाना होता है। कुण्डलिनी के ब्रह्मरन्ध्र पर पहुँचने पर योगी का मन और शरीर से बन्धन छूट जाता है और

साधक पूर्ण समाधि या तुरीयावस्था को प्राप्त कर अनन्य

सिंहलगढ़ के वर्णन में शिव के मस्तक का अच्छा

पौरी नवौ वज्र के साजी । सहस सहस तहँ

फिरहिं पाँच कोतवार सुभौंरी । काँपैं पाँवैं चपत

× ×

नवौ खण्ड नव पौरी, औ तहँ बज्र—के

चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत्त सौं उतरै प

नव पौरी पर दसवँ दुआरा । तेहि पर बाज ·

घरी सो बैठि गनै घरियारी । पहर पहर सो आप

जबहिं घरी पूजि तेहि मारा । घरी घरी घरियार

परा जो डाँड़ जगत सब डाँड़ा । का निचिन्त माटी क

तुम्ह तेहि चाक चढ़े हौ काँचे । आयेहु रहै न थिर हो

घरी जो भरी घटी तुम्ह आऊ । का निचिन्त होइ सोउ

पहरहिं पहर गजर निति होई । हिया बजर मन जाग

× × ×

कहौं सो तोहि सिंहलगढ़ है, खण्ड सात चढ़ाव

फिरा न कोई जियत जिउ, सरगपन्थ देइ पाव

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया । पुरुष देखु ओही कै

पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हें । जेइ पावा तेइ आपुहि

नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा । औ तहँ फिरहिं पाँच

दसवँ दुवार गुपुत एक नाका । अगम चढ़ाव, बाट सुठि

भेदै जाई कोइ वह घाटी । जो लह भेद चढ़ै होइ

गढ़तर कुण्ड सुरङ्ग तेहि माहाँ । तहँ वह पन्थ कहौं

दसवँ दुआर ताल कै लेखा । उलटि दिस्टि जो लाव सो

जस मरजिया समुद धँस हाथ आाव तब सीप।
ढूँढि लेइ जो सरग दुआरी चढ़े जो सिंघल दीप॥

× × ×

आपुहि मीच जियन पुनि, आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आप करै जो चाहै, कहाँ सो दूसर कोइ!

असीम से तादात्म्य होने पर सर्वत्र अहं ही रह जाता है। फिर मृत्यु, जन्म कैसा! स्वयं से मरण कैसे हो सकता है!

सातौ पँवरि कनक-केवारा। सातौं पर बाजहिं घरियारा॥
सात रङ्ग तिन्ह सातौ पवरी। तब तिन्ह चढ़ै फिरै नव भँवरी॥
खण्ड-खण्ड साज पलङ्ग औ पीढ़ी। जानहु इन्द्रलोक कै सीढ़ी॥
चन्दन बिरिछ सोह तहँ छाहीं। अमृत कुण्ड भरे तेहि माहीं॥

पद्मावती का रूप वर्णन हमें लौकिक से अलौकिक की ओर जाता हुआ दिखाई देता है। उसके सौन्दर्य में परम ज्योति का आभास होता है। उसका रूप सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त दिखाई देता है। उसके प्रत्येक अङ्ग की चेष्टा में कवि विश्व की, असीम की झलक पाता है।

नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥

× × ×

उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहि न गने। वे सब बान ओही के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखा ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े॥

बरुनी बान अस ओपहँ, बेधे रन बन ढाँख।
सौजहि तन सब रोवाँ, पंखहि तन सब पाँख॥

भावुक जिज्ञासु को जब ब्रह्म ज्योति का आभास होने लगता है तब

कह सकते। इस प्रकार वाच्यार्थ के प्रस्तुत और व्यंग्यार्थ के अप्रस्तुत होने से ऐसी जगह सर्वत्र 'समासोक्ति' ही माननी चाहिये। 'पद्मावत' के सारे वाक्यों के दोहरे अर्थ नहीं हैं, सर्वत्र अन्य पक्ष के व्यवहार का आरोप नहीं है। केवल बीच-बीच में कहीं-कहीं दूसरे अर्थ की व्यञ्जना होती है। ये बीच-बीच में,आये हुए स्थल, जैसा कि कहा जा चुका है, अधिकतर तो कथा-प्रवाह के अङ्ग हैं:—जैसे, सिंहलगढ़ की दुर्गमता और सिंहलद्वीप के मार्ग का वर्णन; रत्नसेन का लोभ के कारण तूफान में पड़ना और लङ्का के राक्षस के द्वारा बहकाया जाना। अतः इन स्थलों में वाच्यार्थ से अन्य अर्थ जो साधना पक्ष में व्यंग्य रखा गया है, वह प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से अप्रस्तुत ही कहा जा सकता है, और 'समासोक्ति' ही माननी पड़ती है।"
श्री गुलाबरायजी ने अपने 'हिन्दी-काव्य-विमर्श' में दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय करते हुये लिखा है:—"कुल मिलाकर सम्पूर्ण ग्रन्थ में अन्योक्ति भले ही हो पर विशेष स्थलों पर तो समासोक्ति ही माननी चाहिये।"

उदाहरण स्वरूप:—

कुहुकि कुहुकि कोयल जस रोई। रकत के आँसु घुँघुचि बनु बोई॥
जहँ जहँ ठाढ़ होइ बनवासी। तहँ तहँ होहि घुँघुचि कै रासी॥
बूँद बूँद में जानहु जीऊ। गुंजा गुंजि करै 'पिउ पीऊ'॥

यह नागमती की विरह दशा का शुद्ध लौकिक वर्णन है। यदि हम इसमें भी आत्मा के विरही रूप का आभास पावें तो यह कवि के साथ अन्याय होगा।

गवन-चार पद्मावति सुना। उठा धसकि जिउ औ सिर धुना॥
गहबर नैन, आये भरि आँसू। छाड़ब यह सिंघल कबिलासू॥
छाँड़िउँ नैहर, चलिउँ बिछोई। एहिरे दिवस कहँ हौं तब रोई॥

× × × ×

पुनि पद्मावति सखी बोलाई। सुनि कै गवन मिलै सब आई॥
मिलहु सखी हम तहँवाँ जाहीं। जहाँ जाइ पुनि आउब नाहीं॥

उसे सांसारिक व्यवहार अज्ञानान्धकार के समान लगने

> पिय के जोति दीप वह सुक्षम । यह जो दीप अँधि
> उलटि दीठि माया सौं रूठी । पलटि न फिरी जा'

समुद्र की हँसी के द्वारा संसार के मोह, ममत्व के प्रकार अभिव्यक्ति की गई है :—

> हँसा समुद, होइ उठा अँजोरा । जग बूड़ा सब कहि-क
> तोर होइ तोहि परे न बेरा । बूझि बिचारि तहूँ के
> हाथ मरोरि धुने सिर झाँखी । पै तोहि हिये न उघ
> बहुते आइ रहे सिर मारा । हाथ न रहा झूठ

अलाउद्दीन ने पद्मावती के शरीर का बिम्ब दर्पण में दे रहा इस के द्वारा कवि ने बिम्ब प्रतिबिम्बवाद का कितना ज्ञान-पूर्ण वर्णन किया है।

अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना (अन्योक्ति) के देखिये—

> (१) सुर उदयगिरि चढ़त भुलाना । गहन गहा, कँवल ः
> (२) कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाइ
> अबहुँ बेलि फिर पलुहै, जो पिय सींचे आइ

उपरलिखित सब उदाहरणों में वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ वह साधना पक्ष की अभिव्यञ्जना करता है। इन . . . .

किन्तु आचार्य श्री रामचन्द्रजी शुक्ल ने 'जायसी' भूमिका में इस विषय पर लिखा है। "यदि कवि के स्पष्टीकरण व्यंग्य अर्थ को ही प्रधान या प्रस्तुत माने तो जहाँ जहाँ निकलते हैं, वहाँ-वहाँ अन्योक्ति माननी पड़ेगी। पर ऐसे स्थल कथा के अङ्ग हैं और पढ़ते समय कथा के अप्रस्तुत होने की पाठक की हो नहीं सकती। अतः इन स्थलों के वाच्यार्थ को

कह सकते। इस प्रकार वाच्यार्थ के प्रस्तुत और व्यंग्यार्थ के अप्रस्तुत होने से ऐसी जगह सर्वत्र 'समासोक्ति' ही माननी चाहिये। 'पद्मावत' के सारे वाक्यों के दोहरे अर्थ नहीं हैं, सर्वत्र अन्य पक्ष के व्यवहार का आरोप नहीं है।, केवल बीच-बीच में कहीं-कहीं दूसरे अर्थ की व्यञ्जना होती है। ये बीच-बीच में,आये हुए स्थल, जैसा कि कहा जा चुका है, अधिकतर तो कथा-प्रवाह के अङ्ग हैं:—जैसे, सिंहलगढ़ की दुर्गमता और सिंहलद्वीप के मार्ग का वर्णन; रत्नसेन का लोभ के कारण तूफान में पड़ना और लङ्का के राक्षस के द्वारा बहकाया जाना। अतः इन स्थलों में वाच्यार्थ से अन्य अर्थ जो साधना पक्ष में व्यंग्य रखा गया है, वह प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से अप्रस्तुत ही कहा जा सकता है, और 'समासोक्ति' ही माननी पड़ती है।''

श्री गुलाबरायजी ने अपने 'हिन्दी-काव्य-विमर्श' में दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय करते हुये लिखा है:—''कुल मिलाकर सम्पूर्ण ग्रन्थ में अन्योक्ति भले ही हो पर विशेष स्थलों पर तो समासोक्ति ही माननी चाहिये।''

उदाहरण स्वरूप:—

कुहुकि कुहुकि कोयल जस रोई। रकत के आँसू घुँघुचि बनु बोई॥
जहँ जहँ ठाढ़ होइ बनवासी। तहँ तहँ होहि घुँघुचि के रासी॥
बूँद बूँद में जानहु जीऊ। गुंजा गुंजि करै 'पिउ पीऊ'॥

यह नागमती की विरह दशा का शुद्ध लौकिक वर्णन है। यदि हम इसमें भी आत्मा के विरही रूप का आभास पावें तो यह कवि के साथ अन्याय होगा।

गवन चार पदमावति सुना। उठा धसकि जिउ औ सिर धुना॥
गहवर नैन, आये भरि आँसू। छाड़व यह सिंघल कविलासू॥
छाँड़िउँ नैहर, चलिउँ बिछोई। ऐहि रे दिवस कहँ हौं तन रोई॥

× × × ×

पुनि पद्मावति सखी बोलाई। सुनि कै गवन मिलै सब आई॥
मिलहु, सखी हम तहँवाँ जाहीं। जहाँ जाइ पुनि आउब नाहीं॥

थान समुद्र पार वह देसा । किन्हे मिलन, कित
अगम पंथ पर-देस सिधारी । न जनौं कुसल कि

पद्मावती के सिवल से विदा होने समय के ...
संसार से विदा होने के वर्णन का अर्थ व्यंजित होता है।
दृष्टि में रखने पर वाच्यार्थ ही प्रधान ठहरता है। संसार
से मिलन (परलोक गमन) यह आध्यात्मिक अर्थ
अनुभूति में बाधा, व्यवधान उपस्थित करता है।

सौ दिल्ली अस निबहुर देस । केहि पूछहुँ, को
जो कोइ जाइ तहाँ कर होई । जो आवे किछु
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा । जो र गयउ सो

प्रसङ्ग को देखते हुये यहाँ भी वाच्यार्थ ही प्रधान है,
स्थलों पर 'समासोक्ति' ही होगी।

'पद्मावत' में कुछ स्थल ऐसे भी मिलते हैं जहाँ
(वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ) दोनों प्रधान हो जाते हैं;
की हानि होती है और न साधना पक्ष के अर्थ के पूर्ण
आती है। दोनों पक्षों में अर्थ ठीक-ठीक बैठ जाता है।

पिय हिरदय महँ भेट न होई। कोरे मिलाव,
ईश्वर सम्बन्धी रहस्यात्मक व साधारण लौकिक अर्थ

भँवर आइ बन खण्ड सन लेइ कवँल कै
दादुर बास न पावई भलहि जो आछ

कथा के विकास और अन्त की ओर
साधना पक्ष के अर्थ ग्रहण करने से कथा
कोई हानि नहीं होती है।

के हाथ के विचारों का जब विचार करते हैं तो
कथा के उपसंहार में सारी कथा को रूपक

के उद्दण ही है।

चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
सुआ जेहि पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
ती- यह दुनियाँ धंधा। बाँचा सोइ न ऐहि चित बंधा॥
दूत, सोइ, सैतान। माया अलादीन सुलतान॥
न्तु इसके साथ ही कवि ने यह भी लिखा है कि:—

हि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
इ भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुस के घट माहीं॥
कथा ऐहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥
इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि ने प्रेम कथा लिखी और
ने उसमें आध्यात्मिक अर्थ भी पाया। यह तो हो नहीं सकता कि
ध्येय केवल प्रेम-कथा कहना ही था और उसके द्वारा कथा में
के जीवन का रूपक यों ही घटित हो गया। और यह भी नहीं हो
कि कवि की आध्यात्मिक अर्थ की व्यञ्जना के हेतु काव्यार्थ को
भीड़ रही हो। उसे काव्य के सौन्दर्य की, प्रबन्ध सौष्ठव की हत्या
क निर्वाह की इच्छा कभी नहीं रही होगी। यदि ऐसा होता तो
विरह वर्णन बारहमासा जो कि शुद्ध लौकिक विप्रलम्भ शृङ्गार
र्गत आता है तथा लौकिक शृङ्गार वर्णन आदि सुन्दर प्रकरणों का
अन्योक्ति में होना सम्भव नहीं था।

हलगढ़ व सिंहल द्वीप वर्णन, मार्ग के वर्णन द्वारा आध्यात्मिक अर्थ
व्यञ्जना करना, लौकिक रूप में अनन्त सौन्दर्य का आभास
, पद्मावती (बिम्ब) की छाया में ब्रह्म के प्रतिबिम्ब का आरोप
था कथा का आदर्शात्मक अन्त न दिखाना (यदि कथा का अन्त
त्मक होता तो कवि का ध्येय राघव-चेतन को उचित दण्ड दिलाये
था का अन्त न करना होता) हमें इस निष्कर्ष की ओर ले
कि कवि का उद्देश्य सारी कथा को साधक के जीवन की

अन्योक्ति बनाने का रहा होगा। किन्तु कुछ
इस निष्कर्ष, परिमाण की दृढ़ स्थिति को विचलित
पद्मावती, जो ईश्वर से मिलाने वाली बुद्धि थी, को मात कर
के नागमती (दुनिया धंधा) की ओर उन्मुख होने से रूपक
संशय उत्पन्न होता है। ईश्वर से मिलाने वाली बुद्धि [illegible]
साधक (रत्नसेन) के विरह में विह्वल कैसे हो सकती है ? उसे
अपनी साधना के द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। [illegible]
का संयोग वर्णन लौकिक जैसा ही प्रतीत होता है, उसमें [illegible]
का आभास नहीं होता है। वैसे ही [illegible]
है। इसी कारण आचार्य शुक्लजी ने कहा है—"पद्मावती
रस प्रधान काव्य ही कह सकते हैं।"

इस विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं
मन्तव्य कथा कहने के साथ साथ रूपक निर्वाह भी था।
कथा वर्णन था किन्तु कथा प्रसङ्ग के बीच बीच [illegible]
अभिव्यक्ति भी की है। उन्होंने एक भी स्थल ऐसा नहीं
आध्यात्मिक अर्थ व्यक्त किया जा सकता हो और उन्होंने
में व्यञ्जना नहीं की हो।

तात्पर्य यही है कि 'पद्मावत' 'अन्योक्ति' तथा 'समा[illegible]
समन्वय ग्रन्थ है। दोनों को यह मानने में समाविष्ट किये
एक ही पंथ से दो काम साधे हैं और यह उनकी सफलता थी